भारतीय ललित कलाएँ

(एक परिचय)

लेखक

देवीलाल सामर, एम० ए०

अध्यक्ष---कला मंडल, विद्या भवन, उदयपुर

एवं

डायरेक्टर---भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर

नक्षत्र प्रकाशन

उज्जैन

दो शब्द

कई वर्षों से नृत्य, संगीत और नाट्य विषयक एक पुस्तक हिन्दी में लिखने की मेरी उत्कंठा थी। इन विषयों के अपने व्यावहारिक अनुभवों को शब्द बद्ध करने से कम–से–कम मुझे तो आत्म-संतोष होता ही; परन्तु पिछले वर्षों से अपने कला संबन्धी काम में अत्यधिक व्यस्त रहने से मेरी यह चिर पोषित इच्छा इससे पूर्व तक पूरी नहीं हो सकी। इसी बीच कुछ मित्रों ने मुझे एक ऐसी पुस्तक लिखने को बाध्य किया, जो छात्रोपयोगी तो हो ही साथ ही उसमें ललित कला सम्बन्धी उन सब ज्ञातव्य बातों का समावेश भी हो, जिन से हमारा आज का नागरिक प्रायः अनभिज्ञ सा रहता है।

स्वतंत्र भारत में प्रत्येक भारतवासी को हमारी बहुमुखी प्रवृत्तियों का ज्ञान आवश्यक होगा। वही सफल नागरिक समझा जायेगा, जिसकी अभिरुचि की परिधि बड़ी और जिज्ञासा की सीमा अपरिमित होगी। यह भी निश्चित है कि स्वतंत्र भारत में कला का अपना विशिष्ट स्थान होगा और आज के इस पुनर्जागरण के समय में जो भी व्यक्ति गाफिल रहेगा, वह प्रगति की दौड़ में अवश्य ही पिछड़ जायेगा। इसी एक व्यापक दृष्टि को ध्यान में रखकर इस पुस्तक की रचना की गई है। इसके विषय, वैसे तो शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त जटिल और क्लिष्ट है, परन्तु इसे जानबूझकर सरल, संक्षिप्त और रुचिकर बनाया गया है और उन सब क्लिष्ट तत्वों को छोड़ दिया गया है, जिनसे इस पुस्तक को ललित कला का शास्त्र बनने का श्रेय तो प्राप्त हो जाता, परन्तु वह जन साधारण के लिए, विशेष करके छात्रों के लिये, विशेष उपयोगी सिद्ध न होती।

एक बात यहाँ अवश्य लिख देना जरूरी है कि इस पुस्तक में, जहाँ भी संभव हो सका है, कला के लोक पक्ष का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यह हमारे समाज का ऐसा पक्ष है, जिसे हम लोक कला के प्रति उदासीनता के कारण प्रायः आँखों से ओझल कर देते हैं, तथा उपेक्षणीय समझते रहते हैं।

मुझे आशा है कि अपने विषय की हिन्दी की यह पुस्तक, उपयोगी सिद्ध होगी और पाठकों की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करेगी।

विद्या भवन, उदयपुर
४ फरवरी, १९५२

देवीलाल सामर

अनुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

भारतीय ललित कला

कला की व्यापकता। ललित कलाओं के विविध रूप। भारतीय कला और धर्म। कला और औद्योगिक संस्कृति। हमारी कलात्मक परंपराएँ। कलाओं की वर्तमान स्थिति। १–६

दूसरा परिच्छेद

भारतीय चित्रकला

चित्रकला की प्राचीनता। बौद्ध कालीन चित्रकला। मध्यकालीन चित्रकला। मुगलकाल। राजपूत कलम। काँगड़ा कलम। भारतीय चित्रकला की आधुनिक शैलियाँ। हमारी लोक-चित्रकला। ७–२०

तीसरा परिच्छेद

भारतीय वास्तु और मूर्तिकला

भारतीय वास्तु कला का सामंजस्य। अशोक कालीन स्तूप। बौद्धकालीन गुफाएँ। मंदिरों की वास्तु तथा मूर्तिकला। मुस्लिम मकबरे, मस्जिदें तथा राजप्रासाद। राजपूत वास्तु कला। आधुनिक वास्तुकला। २१–३२

चौथा परिच्छेद

भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की पृष्ठ भूमि। मध्यकालीन परिस्थिति। ख्याल गायकी। ठुमरी गायकी। टप्पा गायकी। संगीत का पुनरुत्थान।

भारतीय लोकगीत । भारतीय संगीत की कुछ विशेष बातें । भारतीय संगीत की ताल। ३३--४६

पाँचवा परिच्छेद

भारतीय नृत्यकला

नृत्य का उद्गम। भरत मुनि का नाट्य शास्त्र। भारतीय नृत्य के तीन अंग तथा उनकी तीन अवस्थाएँ। भारतीय नृत्य का विकास। भारतीय नृत्य के चार प्रकार--- (१) भरत नाट्यम् (२) कथकली (३) कथ्थक (४) मणिपुरी। भारतीय लोक नृत्य। ४७--६२

छठा परिच्छेद

भारतीय नाट्य

नाट्य का प्रारम्भ। भारतीय नाट्य का आरम्भ। कठपुतली का नाच। प्राचीन भारतीय रंगशालाएँ अथवा प्रेक्षागृह। प्राचीन भारतीय नाट्य के तत्व । प्राचीन भारतीय नाट्य। प्राचीन नाटक और नाटक लेखक। एकांकी नाटक । भारतीय नाट्य और सिनेमा। भारतीय लोक नाट्य । उत्तर प्रदेश की रासलीला और रामलीला। परबतसर (मारवाड़) के कठपुतली के नाच । भीलों का 'गौरी' नाट्य। राजस्थान के ख्याल और रास धारियाँ। दक्षिण भारत के यक्ष-गान और कुचपुड़ी नाट्य। ६३--७९

भारतीय ललित कलाएँ

(एक परिचय)

भारतीय ललित कला

कला की व्यापकता:—

हमारा देश सदा से अनेक कलाओं का घर रहा है। ये कलाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बिखरी पड़ी हैं। घरों, मंदिरों, प्रासादों, वेश-भूषाओं, आलंकरणों और दैनिक-प्रयोग की अनेक चीजों में भारतीय कला के दर्शन होते हैं। सार्वजनिक समारोहों, उत्सवों, विवाहोत्सवों तथा धार्मिक पर्वों पर ये कलाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती हैं। इन कलाओं का अत्यन्त मनोहर रूप विवाह-मंडपों की सजावट, स्त्रियों की आकर्षक वेश-भूषा, उनके हाथों की कलात्मक महावर, वेणियों की आकर्षक गुँथाई तथा उनके कोकिल कंठों की मधुर स्वर लहरियों में परिलक्षित होता है। यह तो हमारी कला का दैनिक और सार्वजनिक रूप है, जो अभी भी हमारे सौन्दर्य पक्ष की विविधता को प्रकट करता है; परन्तु यदि हम अपने अतीत की तरफ झाँकें तो हमें अपनी कला का एक मूर्तिमान रूप दिखलाई पड़ेगा। कला के ये उत्कृष्ट नमूने हमें अपने प्राचीन मंदिरों, प्रासादों, गुफाओं, स्तूपों और खंडहरों में उपलब्ध होते है।

कला के आधुनिक रूप भी हमारे देश में कम नहीं हैं; केवल उन्हें देखने के लिए दृष्टि चाहिये। जहाँ कला के बड़े-बड़े रूप भव्य इमारतों, सभामंडपों, चित्रालयों, शिल्पगृहों, संगीतालयों तथा नाट्यगृहों में दृष्टिगत होते हैं, वहां उनके दैनिक और व्यावहारिक रूप भी हमारे देश में कम नहीं। उन्हें हम नाना प्रकार के उद्योगों, कपड़ों, चूड़ियों, बर्तनों, जेवरों, खिलौनों तथा दैनिक उपयोग की सामग्रियों में देख सकते हैं।

ललित कलाओं के विविध रूप:—

ऊपर लिखी सभी कलात्मक वस्तुएँ ललित कला में सम्मिलित नहीं हो सकतीं; अतः कला के दो रूप विद्वानों ने निर्धारित किये हैं। (१) ललित कला

(२) उपयोगी कला। उपयोगी कलाओं में उन सभी चीजों का शुमार होता है, जो दैनिक व्यवहार की हैं; परन्तु जिनका भावना पक्ष विशेष प्रबल नहीं होता। ऐसी कला में बाह्य सामग्रियों का आधार विशेष होता है। जैसे लकड़ी के खिलौने, टेबुल-कुर्सी, सोफ़ासेट, कालीन आदि। इन चीजों में कलापक्ष अवश्य है, परन्तु जिन सामग्रियों से ये चीजें बनती है, उनका महत्व कलाकृति बन जाने के बाद भी बना रहता है और उनका निर्माण दैनिक उपयोग के लिए होता है, इसलिए हम इन कला-कृतियों को उपयोगी कला की श्रेणी में रखते हैं। परन्तु वे कलाएँ, जिनका सौन्दर्य और भाव-पक्ष प्रबल होता है और जिनपर मूल सामग्री की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व की छाप विशेष रहती है, उन्हें हम ललित कलाओं की श्रेणी में रखते हैं। इस वर्गीकरण की दृष्टि से निम्न-लिखित कलाएँ ललित कलाओं में शुमार होती हैं :—

(१) चित्र कला	(२) शिल्प कला	(३) वास्तु कला
(४) संगीत कला	(५) नृत्य कला	(६) नाट्य कला

इन कलाओं को भी दो भागों में विभक्त कर सकते है। एक तो वे, जिनमें मूल सामग्री अथवा मूर्त आधार विशेष है और जो स्थूल हैं; दूसरी कलाएँ वे हैं, जिनमें मूर्त आधार बहुत कम है या सूक्ष्म हैं। स्थूल कलाओं की श्रेणी में वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकलाएँ आती हैं। मूर्ति कला का मूर्त आधार ईंट, पत्थर तथा चूना है। यद्यपि कलाकार इन में सौन्दर्य और भाव भरने की पूरी कोशिश करता है, परन्तु मूर्ति बनने के उपरान्त भी ईंट, पत्थर का कुछ तो मूल्य बना ही रहता है। चित्रकला में यह मूर्त आधार अपेक्षाकृत बहुत कम रहता है, क्योंकि चित्रकार जिस कागज, रंग तथा तूलिका का प्रयोग करता है उनका चित्र बन जाने के उपरान्त बहुत कम महत्व रहता है। और चित्रकार की तूलिका से चित्रित भाव-मूर्तियाँ दर्शक के मन में भावों के एक विचित्र सागर को आन्दोलित करती हैं। यह मूर्त आधार संगीत, नृत्य तथा काव्य में प्रायः नहीं के बराबर रह जाता है। यह मूर्त आधार माना भी जाय तो संगीतकार के लिए तानपूरा; नृत्यकार के लिए घुँघरू, वेशभूषा तथा नाट्यकार के लिए रंगमंच आदि हैं, परन्तु ये इतने दुर्बल हैं कि यदि चाहें तो उनके बिना भी नृत्य, संगीत तथा नाट्य की सृष्टि हो सकती है।

शास्त्रकारों ने काव्य को भी ललित कलाओं में सम्मिलित किया है और उसके भी दो रूप निर्धारित किये हैं। प्रथम श्रव्य काव्य, जिसकी तृप्ति का विधान श्रवणेन्द्रिय से विशेष है, जैसे उपन्यास, कहानियाँ, प्रबंध काव्य आदि और दूसरा दृश्य काव्य, जिसकी तृप्ति का विधान दर्शन से विशेष है, जैसे नाटक। दृश्य काव्य में संगीत ही की तरह रसनिष्पत्ति होती है, जो हृदय में रसोद्रेक के साथ आनन्द की सृष्टि करता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने दृश्य काव्य को श्रव्य काव्य से कहीं अधिक प्रभावशाली माना है। काव्य के इसी रूप अथवा नाटक को ललित कला के अन्तर्गत मान कर हम उसका विवेचन करते हैं। दृश्य काव्य के इस रूप को, रूपक भी कहते हैं, क्योंकि उसका रूप उपस्थित किया जा सकता है। यह रूपक नृत्य और संगीतमय रहता है।

भारतीय कला और धर्मः—

प्राचीन भारत में हमारी समस्त कलाएँ धार्मिक स्थानों के साथ ही सम्बद्ध रही हैं और कला के उत्कृष्ट नमूने प्रायः वहीं विकसित हुए हैं। इसका मूल कारण यह है कि लगभग सभी भारतीय धर्मों ने सांसारिकता से विरक्त रहने का उपदेश दिया है और जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति ही बतलाया है; अतः प्राचीन भारतीयों ने अपना कार्य क्षेत्र धार्मिक स्थानों को बनाया। उस समय कला भगवान को प्राप्त करने का एक साधन मात्र थी अतः वह सांसारिक कार्यों में बहुत कम प्रयुक्त हुई। कलाकारों ने अपनी कला-साधना में समर्पण की भावना को प्रधानता दी। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपनी कला से स्वार्थ-साधन और सांसारिक जीवन को सजाने-संवारने का काम नहीं लिया और अपनी कला को समर्पण और भक्ति की भावना से धार्मिक स्थानों में व्यक्त किया। यही कारण है कि प्राचीन भारत की अधिकांश ललित कलाएँ मंदिरों में ही परिपुष्ट हुईं। प्राचीन शिल्प और स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने मंदिरों, बौद्धविहारों तथा स्तूपों में ही उपलब्ध होते हैं, तथा संगीत की प्राचीन ध्रुपद शैली भी धार्मिक स्थानों की ही शोभा बढ़ाती रही। दक्षिण भारत की तीनों नृत्य शैलियाँ आज भी देवदासियों द्वारा मंदिरों में ही सुरक्षित हैं। प्राचीन चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट नमूने अजंता, बाघ आदि बौद्ध गुफ़ाओं में ही उपलब्ध होते हैं। प्राचीन नाट्य के अभिनय भी धार्मिक स्थानों में ही हुआ करते थे।

जीवन की यह अत्यधिक धर्म प्रधानता लगभग ईसा की ८ वीं शताब्दी तक रही; परन्तु उसके बाद उसका महत्व कम होता गया। उसके साथ ही कला में संसारिकता और शृंगारिकता का समावेश हुआ। उसके पूर्व की कलाएँ सरल, भक्ति भाव से ओत-प्रोत तथा आडंबर हीन थीं। उसके बाद उनमें आलंकारिकता का समावेश हुआ और भावना की जगह कल्पना को प्रधानता मिली। इस परिवर्तन के समय विदेशी आक्रमण भी काफी मात्रा में घटित हुए। आक्रमणों के समय अतिशय धर्म प्रधान भारतवासी यह विश्वास करते थे कि उनका भगवान मूर्ति में से बाहर निकलकर उनकी रक्षा करेगा; परन्तु जब उनकी यह आशा निराशा में परिणत हुई, तो उनका मूर्तियों पर से विश्वास स्खलित होता गया और कला में धार्मिकता की जगह व्यावसायिकता का समावेश हुआ। मध्यकालीन समस्त कलाओं में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगत होती है। उस समय के समस्त मंदिरों में सजावट, आलंकारिकता और चमत्कार-प्रदर्शन की मात्रा विशेष है। चित्रकला में मुगल और कांगड़ा कलम और संगीत में ख़्याल, ठुमरी तथा टप्पा की शैलियाँ इस परिवर्तन का ज्वलंत उदाहरण है। मध्ययुग के बाद तो हमारी समस्त कलाएँ मंदिरों से हटकर, राजमहलों और धनिकों की कोठियों में प्रविष्ट हो गईं और अब कला में सिवाय उपयोगिता-वाद के विशेष कुछ नहीं रहा। कला बाजारों में सस्ते दाम पर बिकने लगीं और कलाकारों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का प्रारम्भ हुआ। कला साधना या कल्पनाविलास न रह कर, आजीविका का साधन बन गई।

कला और औद्योगिक संस्कृति:—

जैसे-जैसे मशीन और उद्योगों का प्रचार बढ़ता है, वैसे-वैसे मनुष्य का भावना पक्ष कुंठित और बुद्धि पक्ष प्रबल होने लगता है। इसके साथ ही मनुष्य की कलात्मक भावना भी कम होने लगती है और जिस वस्तु का भी वह निर्माण करता है, उसमें उसकी उपयोगिता और आर्थिक लाभ की दृष्टि ही विशेष रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कला की रक्षा के लिए औद्योगीकरण को रोकना चाहिए; परन्तु उसके ख़तरों से बचने के लिये कला-विकास की विशिष्ठ परिस्थितियाँ उपस्थित करनी चाहिये। ऐसे ही समय में कला के साथ अनैतिकता और वैभव-विलास की भावना भी जुड़ जाती है। यही कारण है कि मध्य युग

में जब धर्म और कला का संबन्ध विच्छेद हुआ तब कला वैभव और विलास की साधना बन गई और चन्द पेशेवर कलाकारों ने कला को अपनी आजीविका का साधन बना डाला।

हमारी कलात्मक परंपराएँ:—

हमारे यहाँ कला का मूलाधार धर्म होने से कलाकारों की समस्त कृतियाँ समर्पण और आराधना की भावना से होती थी, उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रतिष्ठा की मात्रा बहुत कम थी। धार्मिक और सार्वजनिक स्थानों में कला का प्रदर्शन पहले कर्तव्य समझा जाता था; यही कारण है कि अजंता के भिक्षुओं ने लोकोन्नयन की दृष्टि से अपनी कला का प्रदर्शन निःशुल्क किया। बड़े-बड़े मूर्तिकारों ने अत्यन्त अल्प पारिश्रमिक पर अत्यन्त सुन्दर मंदिर निर्मित किये; बड़े-बड़े कवियों ने अपना जीवन 'हरिनाम' को समर्पित किया; बड़े-बड़े संगीतकारों ने अपनी कला-साधना के लिये मंदिरों को ही चुना तथा हमारी नृत्यकला की समस्त सुन्दर परंपराएँ देवदासियों द्वारा ही सुरक्षित रखी गईं। किन्तु मध्य युग में कला का यह मूलाधार बदल गया और कला आजीविका का साधन बनने लगीं। कलाकारों ने बादशाहों, नवाबों तथा राजा महाराजाओं के यहाँ आश्रय प्राप्त किया। कला का मुख्य उद्देश्य आश्रय दाताओं को खुश करने तथा उनसे धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करना हो गया। कला का यह धरातल बदलने से उसमें हार्दिकता कम होकर बाह्याडंबर और वैचित्र्य की मात्रा बढ़ गई।

कला के आश्रय की यह प्रणाली, कला की अनेक परंपराओं को सुरक्षित रखने तथा उनके विकास में सहायक हुई। जो आश्रय पहले मंदिरों तथा अन्य धार्मिक स्थानों में कला को प्राप्त होता रहा वह मध्य युग में संभव नहीं था; क्योंकि शासकों की अनुदार धर्म-नीति के कारण धार्मिक स्थानों की महत्ता समाप्त हो गई थी। वही आश्रय अब उन्हें राजा महाराजाओं तथा बादशाहों के राज दरबारों में मिल जाने से उस कमी की केवल पूर्ति ही नहीं हुई वरन् विविध कलाओं को बड़ा प्रोत्साहन भी मिला। इन दरबारों में कलाकारों को बड़ी सुविधाएँ प्राप्त थीं, तथा कला के विकास के लिए वहाँ सब प्रकार

के साधन विद्यमान थे। इसके फलस्वरूप कला केवल सुरक्षित ही नहीं रही वरन् उसके नाना रूप भी विकसित हुए। इन कलात्मक परंपराओं को कायम रखने के लिये आज भी अनेक घराने विद्यमान हैं, जिन्होंने हमारी कला के अनेक मौलिक रूप कायम रखे हैं।

कलाओं की वर्तमान स्थिति:--

कलाओं की आज की स्थिति अत्यन्त विषम है। उनमें प्राचीन और मध्यकालीन दोनों ही मूलाधार विद्यमान नहीं है। धर्म के प्रति तो आज के मानव की स्वाभाविक उदासीनता है ही; परन्तु ऐसे धर्माचार्य और धार्मिक स्थान ही नहीं हैं, जहाँ कला को उचित आश्रय प्राप्त हो सके। राजे महाराजे तथा नवाबों के यहाँ जो आश्रय प्राप्त था वह भी अब नहीं रहा। इससे हमारी कलाओं को बड़ी क्षति पहुँची है। आज के अधिकांश कलाकारों तथा कला के घरानों के सामने आजीविका की सबसे बड़ी समस्या है। उनमें से कइयों को राज्याश्रय से हाथ धोना पड़ा है। जयपुर, ग्वालियर, बड़ौदा, उदयपुर, दिल्ली, आगरा, लखनऊ जो कभी इन घरानों के महान केन्द्र थे आज कला की दृष्टि से बिलकुल उजड़ गये हैं। इन घरानों के श्रेष्ठ कलाकारों को आज मेहनत मजदूरी करके अपना पेट पालना पड़ रहा है। अगर हमारी यही स्थिति रही तो हमारी अनेक कलात्मक परंपराएँ सदा के लिये नष्ट हो जायँगी और हम अपनी राष्ट्रीय धरोहर खो बैठेंगे।

धर्म
आजीविका

१. ललित कला किसे कहते हैं, भेद
२. का विकास किन परिस्थितियों में हुआ

भारतीय चित्र कला

चित्रकला की प्राचीनता:--

जिस तरह नाट्य, नृत्य तथा संगीत की अनेक प्रवृत्तियाँ आदि मानव के समय अपने अत्यन्त प्रारंभिक रूप में भी विद्यमान थीं, उसी तरह चित्र लेखन की भी कुछ प्रारंभिक परंपराएँ विद्यमान हैं। पुरातत्व विभाग द्वारा भारतवर्ष में जहाँ-जहाँ भी खुदाई के कार्य हुए हैं वहाँ अनेक ऐसे पत्थर तथा पक्की मिट्टी के बर्तन मिले हैं, जिनपर प्रारंभिक मानव द्वारा अंकित किये हुए जानवरों तथा पशुओं के रेखा चित्र उपलब्ध होते हैं। सिन्ध की घाटी में स्थित मोहनजोदड़ो की खुदाई में भी ऐसी सामग्रियाँ मिली हैं, जिनमें उस समय के रेखा चित्रों के अनेक नमूने दिखाई पड़ते हैं। ई० पू० प्रथम शताब्दी के कुछ भित्ति चित्र रामगढ़ स्टेट की जोशी मारा गुफाओं में भी मिलते हैं, इन गुफाओं में जंगली जानवरों तथा आखेट के चित्र हैं। वे अब समय के अनेक प्रहारों के कारण स्पष्ट नहीं हैं। जान पड़ता है उस समय में संसार के सभी चित्रों की यही शैली विद्यमान रही है, क्योंकि अन्यत्र जहाँ भी ऐसे चित्र उपलब्ध हुए हैं, वे सब जंगली जानवरों तथा आखेटों के हैं। उस समय आदि मानव को अपनी आजीविका के लिए इन्हीं हिंस्त्र पशुओं की शिकार पर निर्भर रहना पड़ता था।

इन सब उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि चित्रकला की परंपरा बहुत पुरानी है और वह मानव संस्कृति का बहुत बड़ा साधन रही है। चित्रों के पुरातन नमूने मूर्तियों या अन्य शिल्प-कृतियों की तरह अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सकते हैं, क्योंकि हवा, पानी, प्रकाश आदि का उनपर सब से अधिक प्रभाव पड़ता है। वैसे यदि हम इनकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए प्राचीन साहित्य का आधार ढुंढें तो हमें ज्ञात होगा कि ईसा से सैंकड़ों वर्ष पूर्व भी भारतीय चित्रकला अपने उत्कर्ष तक पहुँच चुकी थीं। आज अनेक ऐसे जैन, बौद्ध और हिन्दू प्राचीन ग्रंथ विद्यमान हैं, जिनमें भारतीय चित्रकला के विविध

तत्वों पर विवेचन किया गया है। जिनका पालन आज भी अनेक चित्रकारों को करना पड़ता है।

बौद्ध कालीन चित्र कला:--

भारतीय इतिहास का बौद्ध काल न केवल धर्म प्रचार तथा बौद्ध संस्कृति के विकास के लिए प्रसिद्ध है वरन् उसमें हमारा वह स्वर्ण युग निहित है, जिसमें मूर्ति, शिल्प तथा चित्रकला के विकास और उत्कर्ष की सबसे अधिक परिस्थितियाँ उपस्थित रही हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म ने संसार को विरक्ति का उपदेश दिया है, फिर भी वह उक्त कलाओं के विकास में सबसे अधिक सहायक हुआ है। कारण यह है कि इन विरक्त बौद्ध भिक्षुओं में अनेक ऐसे कलाकार थे, जिन्होंने संसार से विरक्त होने पर अपनी कला को सांसारिक कार्यों में प्रयुक्त न करके, धार्मिक स्थानों को ही सजाने-सँवारने में लगाया, इन स्थानों को सुन्दर और आकर्षक बनाना वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे, इसीलिये भावों की अभिव्यंजना की शुद्धता और गंभीरता में बौद्ध कला का संसार की कोई भी कला मुकाबला नहीं कर सकती। अजंता की चित्रकला इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। उसमें चित्रकला की समस्त शास्त्रोक्त परंपराओं का पालन तो हुआ ही है, साथ ही उनसे परोक्ष में धर्म प्रचार भी हुआ है। बौद्ध ग्रंथों में वर्णित अनेक कथाओं का चित्रण भित्ति चित्रों के रूप में करके बौद्ध भिक्षुओं ने वही कार्य किया, जो अनेक धर्म प्रचारक उस समय देश विदेशों में घूमकर किया करते थे।

अजंता की २९ गुफाओं में जहाँ-जहाँ भी भित्ति चित्र विद्यमान हैं, वे सब वहाँ की शिल्पकला की तरह ही, एक ही समय के चित्र नहीं हैं। उनकी कला परंपरा के सूक्ष्म ऐतिहासिक परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि १०० ई० से ६०० ई० के बीच की विविध शताब्दियों में वे अंकित किये गये हैं। ये सब चित्र इन ६०० वर्षों में प्रचलित भारतीय लोक-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इनकी रेखाओं में जो शक्ति और रंगों में जो ताजगी आज भी दृष्टिगत होती है वह अद्वितीय है। अजंता की कला सैकड़ों वर्षों की चित्रकला का विकसित रूप है। उनमें कहीं प्राथमिक कला के चिन्ह नहीं हैं तथा वे सिद्धहस्त कलाकारों
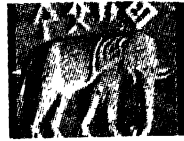
मोहन जोदड़ो के टीकरों पर अंकित रेखा चित्र

अजन्ता का एक चित्र
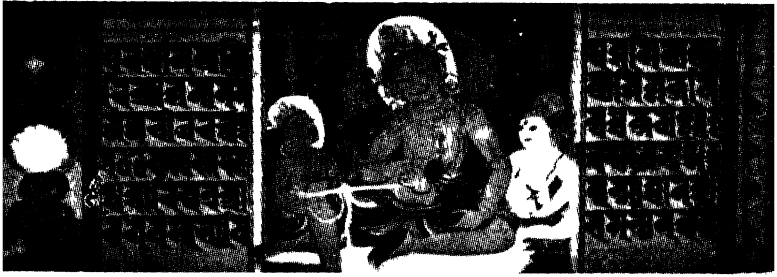
एक प्राचीन ग्रथ का पृष्ठ-चित्र--प्रज्ञापारमिता से

मुगल क़लम का चित्र--नृत्य

की कला-मर्मज्ञता का ही परिचय देती हैं। इन चित्रों की आकृतियाँ अत्यन्त वैज्ञानिक तथा रचना-विधि सर्वांग पूर्ण है। मानव आकृतियाँ विषय के अनुसार भावों से ओत-प्रोत हैं। इन गुफ़ाओं के अनेक चित्र प्राकृतिक प्रक्रियाओं के कारण कहीं-कहीं धुँधले हो गये और कहीं-कहीं मिट गये हैं, परन्तु अधिकांश तो जैसे आज ही बनाये हुए मालूम होते हैं। १६ और १७ नम्बर की गुफ़ाओं के चित्र गुप्त कालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं और उनमें वही ताजगी है जो पहले थी।

बौद्ध शैली के चित्रों के नमूने मध्यभारत के दक्षिण में स्थित बाघ की गुफ़ाओं में भी मिलते हैं। बाघ के चित्र अजंता की १६ और १७ नम्बर की गुफ़ाओं के चित्रों के समकालीन चित्र मालूम होते हैं। वहाँ के अनेक भित्ति-चित्र नष्ट हो चुके हैं, जो भी बच गये हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि वे सभी धार्मिक चित्र नहीं हैं। उनमें से एक चित्र-समूह तो एक नाटक की सारी कथा व्यक्त करता है, अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन चित्रों के अंकन में विशुद्ध धर्म प्रचार ही की भावना नहीं थी। उनके पीछे लौकिक कलात्मक अभिव्यक्ति का भी पर्याप्त उद्देश्य था।

अजंता और बाघ की शैली के अनेक चित्र पहली से छठी शताब्दी तक भारतवर्ष के अनेक विहारों, गुफ़ाओं, स्तूपों, मंदिरों तथा भवनों में अंकित किये गये होंगे, परन्तु वह समय और प्रकृति के क्रूर हाथों से कैसे बच रह सकते थे? केवल वही चित्र आज तक सुरक्षित रह गये जो धूप, गर्मी, सरदी, बरसात और अन्य प्राकृतिक आघातों से बचकर रह सके। अजंता और बाघ की शैली के चित्र भारत ही में नहीं चीन, जापान, जावा, लंका आदि देशों में भी भित्ति-चित्रों के रूप में मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ हमारे कलाकार भी विदेशों में गये और उन्होंने हमारे देश के नाम को उज्जवल किया।

मध्य कालीन चित्र कला:--

लगभग सातवीं शताब्दी तक भारतीय चित्रकला के अनेक नमूने हमें प्राचीन गुफ़ाओं में उपलब्ध होते हैं और उन्हीं से हमें यह ज्ञात हुआ है कि

हमारे पूर्वज इस कला में कितने निपुर्ण थे। बौद्ध काल तक हमें चित्र कला की एक उत्कृष्ट परंपरा प्राप्त होती रही, परन्तु उसके पतन के बाद हमें उसका कोई व्यवस्थित रूप नहीं दीखा, क्योंकि वह समय भारत के लिए काफ़ी विचार-संघर्ष का था। अनेक नवीन धर्मों के प्रादुर्भाव से मनुष्य के मन में एक प्रकार की अस्थिरता उत्पन्न हुई। बौद्ध धर्म के अवसान के उपरान्त, ब्राह्मण, वैष्णव तथा जैन धर्म का उत्कर्ष बढ़ा। अतः ७०० और १६०० ई० के बीच में हमें जो भी चित्र-परंपरा दीख पड़ती है वह इन्हीं धर्मों से संबन्धित है।

१२ वीं शताब्दी के अनेक जैन ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, जिनके पृष्ठ जैन कथाओं के चित्रों से रंगे हुए हैं। इनमें से बहुत से ताड़ पत्रों पर लिखे हुए हैं और उन्हीं पर चित्रकला के नमूने अंकित हैं। ऐसे जैन ग्रंथ आबू, जैसलमेर, पालीताना आदि जैन मंदिरों के भंडारों में अत्यन्त यत्न के साथ सुरक्षित रखे गये हैं। एलोरा की गुफ़ाओं की दीवारों पर ब्राह्मण धर्म से संबन्धित अनेक चित्र आज भी अंकित हैं।

यह काल कला के विकास की दृष्टि से अत्यन्त अनुपयुक्त और शिथिल था, क्योंकि तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण भारतीय जनता ने कम से कम तीन सौ चार सौ वर्ष तक कभी भी चैन की सांस नहीं ली। वह एक न एक समस्या में उलझी ही रही, अतः कला के वे ही रूप उस समय अंकित किये गये, जिनमें प्रदर्शन और व्यवस्था (टेकनीक) की विशेष आवश्यकता नहीं थी। यही कारण है कि उस समय की चित्रकला आक्रमणकारियों के भय से मंदिरों की चहार दीवारी पर भी अंकित नहीं की गई। उस समय कला वैयक्तिक हो गई और सार्वजनिक स्थानों की अपेक्षा किताबों के पन्नों पर चित्रित हुई।

८०० और १६०० के बीच में बौद्धकालीन चित्रकला प्रायः समाप्त सी हो गई थी, परन्तु फिर भी कुछ नमूने इधर उधर मिलते हैं। ८ वीं शताब्दी में नालंदा विश्वविद्यालय की दीवारों पर बौद्ध चित्रकारों ने कुछ चित्र अंकित किये थे, जिनका वर्णन तत्कालीन चीनी यात्रियों के वर्णनों से प्राप्त होता है। १२ वीं शताब्दी का एक बौद्ध ग्रंथ भी प्राप्त हुआ है, जिसके चित्र ठेठ नेपाली अथवा भारतीय हैं। इस ग्रंथ की बौद्ध कथाएँ चित्रों में अंकित की गई हैं।

इन चित्रों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि वे विशेषज्ञों के नहीं सर्व साधारण के हैं। वे चित्र उस समय की राज दरबारी चित्र शैली से बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसे अनेक चित्र यदि सुरक्षित रखे जा सकते तो हमारी राष्ट्रीय धरोहर की अभि-वृद्धि करते।

मुगल कालः—

सम्राट अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ कला के महान् उन्नायक थे, इनके दरबार में अनेक मुसव्विर या चित्रकार थे, जिन्होंने चित्रकला के उत्कृष्ट नमूनें हमें प्रदान किये। इस समय की विशिष्ट शैली मुगल शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह शैली सर्व प्रथम फ़ारस में अवतरित हुई, जिसके समरकन्द और हैरात प्रमुख केन्द्र थे। तैमूर इस शैली का प्रमुख उन्नायक था। इसके राज्य काल में बेहज़ाद जैसा प्रसिद्ध चित्रकार हुआ, जिसकी ख्याति समस्त विश्व में फैली। बेहज़ाद और अब्बास के वंश के चित्रकारों ने ही भारतवर्ष में मुगल शैली को जन्म दिया। अकबर के राज दरबार में ऐसे कई फारसी कलाकारों को स्थान मिला, जिन्होंने भारतीय शैली के मिश्रण से अपनी शैली को भारतीय परम्पराओं के रंग में रंग डाला।

अकबर के समय में बड़े-बड़े चित्र-मंदिर भी खोले गये, जहाँ दूर-दूर के चित्रकार अपनी कला का परिचय देते थे। अकबर की चित्रशाला का प्रसिद्ध चित्रकार शीरीकलम था, जिसके अनेक हिन्दू शिष्य भी थे। इन फारसी चित्रकारों का सबसे अधिक प्रभाव भारतीय चित्रों के रंगों पर था। उन्हीं के कारण भारतीय चित्रों में अनुपम रंग-विधान परिलक्षित होने लगा और उनका रंग खिल उठा। अकबर की चित्रशाला में काश्मीर और गुजरात के चित्रकार भी बुलाये गये थे। उसके समय में फतहपुर सीकरी की दीवारों पर अत्यन्त रमणीक चित्र अंकित किये गये थे। अकबर इस दृष्टि से बड़ा कलाप्रिय सम्राट था। उसके समय में हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों का जितना समन्वय हुआ उतना कभी नहीं। उसके विशाल पुस्तकालय के २४००० हस्तलिखित ग्रंथ उसके समय के उत्कृष्ट कलाकारों द्वारा विविध चित्रों से विभूषित किये गये। जब अकबर ने फतहपुर सीकरी छोड़कर लाहोर में

निवास किया, तो उसने वहाँ के प्रासादों को भी विविध चित्रों से चित्रित कराया। अकबर के राजदरबार में अनेक हिन्दू चित्रकार भी थे, जिन्होंने फारस के चित्रकारों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर काम किया और दोनों ने मिलकर एक नवीन शैली को जन्म दिया, जो मुगल दरबार की चाहर दीवारी में ही सीमित रही। उसके समस्त विषय शाही जीवन के ही थे और वे आकार में बहुत छोटे होते थे। उनमें रेखाओं की बारीकी की अनुपम छटा थी। ये मुसव्विर 'शबीहें' या 'पोर्ट्रेट', (व्यक्ति चित्र) बनाने में उस्ताद थे।

अकबर की तरह जहाँगीर ने भी चित्रकला में अत्यधिक रुचि दिखलाई। उसके दरबार में भी अनेक कलाकारों को स्थान मिला और मुगल चित्रण शैली में अनेक प्रकार के प्रयोग हुए। उसके समय में व्यक्ति विशेष के चित्र खींचने की ओर विशेष प्रयोग किया गया। उसके समय में नाना प्रकार के पशु-पक्षियों तथा शिकार के चित्र भी बनाये गये। जहाँगीर के समय में गोवर्धन नामक एक बहुत बड़ा चित्रकार था, जिसको अपनी कला में बड़ा कमाल हासिल था। उसके बनाये हुए अनेक चित्र आज भी मुगल भवनों को सुशोभित कर रहे हैं।

जहाँगीर की मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने इस कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उसकी रुचि वास्तु कला की ओर विशेष थी और उसने जितने भवन निर्माण किये, उतने किसी ने नहीं किये। अकबर और जहाँगीर के समय के चित्रों की सामर्थ्य और गंभीरता इसके समय के चित्रों में नहीं रही। नाना प्रकार के बेलबूटों और आलंकरणों की छटा ही इस समय के चित्रों की विशेषता थी।

औरंगजेब के समय में कलाओं की जो दुर्दशा हुई वह तो इतिहास प्रसिद्ध है। वह कलाओं का सबसे बड़ा शत्रु था और उसने अपनी कट्टर धार्मिक असहिष्णुता के कारण कलाओं को अपने राज्य में नहीं पनपने दिया, अतः उसके राज्य से निर्वासित सब कलाएँ दिल्ली से संबन्धित राजा महाराजाओं के राज दरबारों में आश्रिता हुई।

राजपूत कलमः--

राजस्थान की रियासतों में इस शैली का प्रादुर्भाव होने से इस ने राजपूत कलम अथवा राजपूत शैली का नाम ग्रहण किया। यह चित्र शैली मुगल शैली से प्रभावित अवश्य हुई परन्तु वह अपने अंकन में उससे बिलकुल भिन्न है। यह शैली पंजाब और राजस्थान में प्रचलित है। जिस समय विदेशी आक्रमणों के कारण सारे भारतवर्ष में उथल पुथल मच रही थी, उस समय इन राजपूत राजाओं ने जिन सुन्दर कलात्मक परंपराओं को ख़त्म होने से बचाया, उनमें भारतीय चित्रकला भी है। राजस्थान की कई रियासतों के राज्य-प्रासादों की दीवारों पर आज भी इस शैली के अनेक चित्र अंकित हैं। यह शैली विशुद्ध भारतीय शैली है। इसमें जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखाओं को सजाने की प्रवृति है वह मुगल शैली के प्रभाव के कारण है। इस समय की कला में प्राचीन हिन्दू कला और हिन्दू विषयों का अच्छा समावेश अवश्य हुआ है; परन्तु यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता का विशेष प्रभाव चित्रकला पर नहीं होकर, मूर्ति, शिल्प तथा वास्तु कला पर हुआ। जिस प्रकार अन्य भारतीय कलाओं को धर्म ने सबसे अधिक प्रभावित किया और उनके उत्कृष्ट नमूने धार्मिक स्थानों में ही उपलब्ध हुए, उस तरह चित्रकला पर धर्म का उतना गहरा असर नहीं दिखलाई पड़ता। पत्थर की मूर्तियाँ तो मंदिरों में स्थापित होती हैं और दीवारों पर भी खुदती हैं, परन्तु चित्र मंदिरों में मूर्तियों की जगह प्रतिष्ठित नहीं होते और न उनसे मंदिरों की स्थायी सजावट ही हो सकती है। अतः राजपूतों के समय में चित्रों द्वारा भारत के धार्मिक पक्ष को विशेष लाभ नहीं पहुँचा; केवल राधाकृष्ण और शृंगारिक लीलाओं के चित्रण में ही चित्रकारों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। उस समय धर्म का शृंगारिक पक्ष ही शेष रह गया था और राधाकृष्ण के शृंगारिक पक्ष को अनेक कवियों और कलाकारों ने नाना प्रकार की कल्पनाओं में अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि राजपूत चित्रण शैली में विषयों की विविधता नहीं मिलती।

इस शैली को राजस्थान की लगभग सभी रियासतों में स्थान मिला था, परन्तु जयपुर उसका प्रमुख केन्द्र रहा है। इसीलिए राजपूत कलम को जयपुर कलम भी कहते हैं। जयपुर के दरबारी चित्रकारों ने अलंकार-शास्त्रों के अनुसार

नायिका-भेद के अनेक चित्र अंकित किये हैं। इसी शैली का दूसरा रूप रागमाला और बारह मासे के चित्रों में दिखलाई पड़ता है। साहित्यकारों ने विविध रागों के, उनके विविध प्रभावों के अनुसार, विविध रूप निर्धारित किये हैं। उन्हीं विशेष रूपों का चित्रण तत्कालीन चित्रकारों ने अपने चित्रों में किया है। उसी तरह विविध ऋतुओं के चित्र भी बारहमासा के रूप में अंकित किये गये, जो जयपुर के संग्रहालय में आज भी विद्यमान हैं। जयपुर के कलाकारों ने बिहारी 'सतसई', केशव की 'रामचन्द्रिका', 'गीत गोविन्द' आदि ग्रंथों को विविध चित्रों से चित्रित किया। इन राजपूत दरबारों में मुगल कालीन समृद्धि और शान शौकत नहीं थी, न उनके पास बारीक से बारीक नक्काशी करनेवाले नक्काश ही थे; इसलिए इनके चित्र अपेक्षाकृत सादे थे और उनमें मुगल कालीन चित्रों की भव्यता और बारीकियाँ नहीं थीं।

काँगड़ा कलम:--

राजपूत शैली के समकालीन एक दूसरी शैली का जन्म पंजाब की कुछ पहाड़ी रियासतों में हुआ। काँगड़ा नामक रियासत में सर्व प्रथम उस शैली में प्रयोग हुए, इसलिए उसका नाम काँगड़ा कलम पड़ा। उसका दूसरा नाम पहाड़ी कलम भी है। काँगड़ा कलम का जन्म १७ वीं शताब्दी के आसपास हुआ और उसके अनेक चित्रकार आज भी जम्मू, काँगड़ा, चंबा आदि रियासतों में निवास करते हैं। यह समय मुगल सम्राटों के पतन का था और जब उनके राजदरबारों से कलाकारों को छुट्टी मिली तो कुछ ने राजस्थान की रियासतों में आश्रय ग्रहण किया और कुछ ने पहाड़ी रियासतों में जाकर इस नवीन शैली को जन्म दिया। काँगड़ा कलम के चित्रकारों ने इन पहाड़ी प्रदेशों की दुर्गम घाटियों में संसार की अन्य प्रवृत्तियों से दूर अपनी कला का परिचय दिया। उनकी कला के विषय बड़े-बड़े धार्मिक और विचार प्रधान विषय नहीं थे। उन्होंने अपनी कला को रेखाओं की बारीकी, रंगों की मनमोहकता तथा आलंकरण की कारीगरी से सजाया सँवारा।

पहाड़ी कलम के अधिकांश कलाकार राज्याश्रित कलाकार थे। वे साधारण आवागमन के साधनों से हीन पहाड़ी प्रदेशों के बाहरी प्रभावों से प्रायः वंचित

ही रहे, जिससे इन कलाकारों की कल्पना में व्यापकता नहीं आ सकी। उनके चित्रों के विषय और उन्हें सराहने वालों का दायरा भी इसीलिए सीमित ही रहा। अतः इनकी कला के विषय बहुधा इनके आश्रय दाताओं की आकृतियाँ अंकित करना ही रह गया। इन चित्रों के पारिश्रमिक के रूप में इन्हें बड़े-बड़े इनाम मिला करते थे। इन कलाकारों ने पौराणिक हिन्दू कहानियों का चित्रण भी बड़ी सफलतापूर्वक किया। मुगल कलम की तरह ही काँगड़ा कलम में भी रेखाओं की बारीकियाँ और आलंकरण की सुन्दरता विद्यमान थी। प्रारंभ में इनकी कला इन पहाड़ी रियासतों में ही सीमित रही; परन्तु बाद में आधुनिक आवागमन के साधनों की अभिवृद्धि के साथ इन कलाकारों का भारतीय शहरों में भी प्रवेश हुआ और इनके चित्रों का प्रचार-क्षेत्र भी बढ़ा। लाहौर के सिख राजाओं ने इन कलाकारों को अपने राज्य में आश्रय प्रदान किया और उनके अनेक चित्र इस कलम में अंकित किये गये। आज भी अनेक पंजाबी परिवारों में इस कलम के अनेक चित्र संग्रहित हैं।

पहाड़ी रियासतों में निवास करने वाले इन कलाकारों ने अनेक वर्षों तक इस कलम की विशुद्धता को कायम रखा और ये प्रकृति की मनोहर गोद में बैठकर अपनी कला-साधना में निरत रहे। इन पर आधुनिक यान्त्रिक सभ्यता का बहुत कम असर था और ये निस्वार्थ भाव से अपनी भावना को चित्रों में चित्रित करते रहे। अपने आश्रयदाताओं से इन्हें जो भी सम्मान और धन मिलता, उससे वे संतुष्ट रहते। इन्होंने अपने जीवन के सभी आकर्षणों को इन्हीं पहाड़ी घाटियों में सीमित रखा; परन्तु आधुनिक यान्त्रिक साधनों और जीवन की अनेक वृत्तियों में अंतर आ जाने से ये कलाकार अपनी एकाकी और निरन्तर साधना को अधिक समय तक नहीं बचा सके। जीवन की अनेक आर्थिक और पारिवारिक समस्याओं के कारण इन्हें अपनी विशुद्ध कला को व्यावसायिक बनाना पड़ा, तथा सस्ते दामों में बिकने के योग्य व्यावसायिक चित्र बनाने में इनकी शक्तियाँ लगीं। इन चित्रों में काँगड़ा कलम के मौलिक रंगों की मनोरमता तथा रेखाओं का लालित्य नहीं था। वे भारतीय शहरों में सस्ते दामों में बिकने लगे। इससे भी जब इनका गुजारा नहीं हुआ तो इन्हें विवश होकर अपनी वंश परंपरागत कला को छोड़कर आजीविका-उपार्जन के दूसरे साधन ढूँढने पड़े। आज तो इस बीसवीं शताब्दी में राजपूत और काँगड़ा

कलम का चित्रांकन प्रायः बन्द ही हो गया और हमें केवल १८ वीं और १६वीं शती के बने हुए चित्रों के ही दर्शन हो सकते हैं। इस तरह लोक-कलाओं की ये दो महत्वपूर्ण शैलियाँ सदा के लिए समाप्त हो गईं।

भारतीय चित्र कला की आधुनिक शैलियाँ:—

चित्रकला की आधुनिक शैलियों में कोई भी ऐसी महत्वपूर्ण शैली नहीं, जिसका अपना अलग व्यक्तित्व हो। वे या तो पिछली शैलियों की केवल नकल मात्र हैं या वे अनेक शैलियों के मिश्रण। आज कुछ शहरों में प्राचीन शैलियों के अवशेष के रूप में कुछ छुटपुट प्रयोग अवश्य हो रहे हैं; परन्तु उनमें सिवाय भद्दी नकलों और निष्प्राण चित्रांकन के और कुछ भी नहीं। प्राचीन घरानों के कुछ कलाकार अपने पूर्वजों के नाम पर ही जीते रहे और कुछ ख्याति प्राप्त करते रहे। वे अपने पैतृक गाँवों और शहरों से हटकर दिल्ली, पटना, लखनऊ, कलकत्ता, बम्बई जैसे बड़े शहरों में बस गये और प्राचीन शैलियों की दूकानें खोलकर अपनी मनमानी करने लगे। उन्हें कुछ धनिकों और जमींदारों के महलों की दीवारों को चित्रित करने का काम मिल गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक जो चित्र-शैलियाँ प्रचलित थीं, उनसे यही भान होता था कि उनमें न तो प्राचीनता के प्राण हैं और न नवीनता की स्फूर्ति। बीसवीं शताब्दी में कुछ बंगाली चित्रकारों ने नव स्फूर्ति का जागरण किया और पुरानी और नई शैलियों के मिश्रण से एक नवीन शैली को जन्म दिया। उन्होंने भारतीय चित्रकला को ख़त्म होने से बचा लिया। इस शैली के नेता श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इनका जन्म एक ऐसे बंगाली परिवार में हुआ जो अपनी विद्वत्ता और कला-प्रियता के लिए प्रसिद्ध है। उनके साथ काम करने वाले अनेक नवयुवक चित्रकार थे, जिन्होंने अपने गुरु के चरणों में बैठकर चित्र कला में नये-नये प्रयोग किये। सर्व प्रथम उन्होंने पुरानी शैलियों के पुनर्जीवन में ही अपनी शक्तियाँ लगाईं ताकि उनकी सुन्दर परंपराएँ नष्ट न हो सके। उनका विश्वास था कि भारतवर्ष में कोई विदेशी शैली लाकर प्रतिष्ठित नहीं की जा सकती और नवयुगीन कला पुरातन की पृष्ठ भूमि पर ही निर्मित हो सकती है। अतः उन्होंने प्राचीन बौद्ध कालीन भित्ति-चित्रों तथा राजपूत और

राजपूत कलम का चित्र--कारवाँ का ग्राम प्रवेश

काँगड़ा कलम का चित्र—नायिका।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की कलम का चित्र—उमर खैयाम की रुबाई

काँगड़ा कलम का अध्ययन प्रारंभ किया। उन्हें अपनी स्वतंत्र कल्पनाओं को साकार करने की भी पूरी छुट थी और प्राचीनता के बन्धनों से भी वे मुक्त थे। उनके किसी-किसी चित्र में विदेशी शैलियों की छाया भी स्पष्ट थी, परन्तु सामान्य प्रभाव की दृष्टि से वे पूर्णतः भारतीय ही थे। वे पुरानी परंपराओं के अन्धभक्त नहीं थे। उनके चित्रों के विषय महाभारत, रामायण तथा पौराणिक कथाएँ थीं। इस आधुनिक शैली की प्रारंभिक तसवीरें मुगल कलम की बारीकियों और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखा चित्रण से मुक्त थीं। उनमें प्राचीन शैलियों का अनुसरण स्वाभाविक था; क्योंकि उस समय देश में सर्वत्र प्राचीनता के पुनर्जीवन की लहर दौड़ रही थी। इस शैली के प्रमुख कलाकारों में सर्व श्री नन्दलाल बोस, असितकुमार हलधर, शारदा उकील, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय आदि हैं।

इधर जब बंगाल में इस शैली का जन्म हुआ, जिसमें पुरातन का अन्धानुसरण नहीं होते हुए भी उसकी सभी अच्छी बातों का समावेश था, तो उधर बम्बई की तरफ एक ऐसी शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो अधिकतर पाश्चात्य शैली से प्रभावित थी। इस शैली के विषय भारतीय होते हुए भी चित्रांकन के अधिकांश सिद्धान्त पाश्चात्य थे। राजा रवि वर्मा ने इस मिली-जुली शैली का आरम्भ किया। इसमें प्रकाश और छाया पद्धति से चित्रों को यथार्थ बनाने की कोशिश की जाती थी। उनमें परंपरागत भारतीय चित्रांकन की शैली के अनुसार आदर्श और अतिरंजित स्थितियों के चित्रण की प्रवृत्ति नहीं रहती थी। जो चित्र जिस रूप में आंखों को दिखता था उसका हूबहू चित्रण ही इस शैली की विशेषता थी। तैल-चित्रों में इस संस्था ने विशेषता प्राप्त की थी। इस शैली के शिक्षण की प्रमुख संस्था बम्बई का 'स्कूल आफ आर्ट्स' से (Bombay School of Arts) है और उसमें शिक्षा प्राप्त किये हुए अनेक कलाकार आज हमारे देश की शोभा बढ़ा रहे हैं। इस शैली के प्रमुख कलाकार धुरन्धरे, आचरेकर, माली, बेन्द्रे, जोशी आदि हैं।

आधुनिक चित्रकला की इन दो विशिष्ठ शैलियों के अलावा आज अनेक ऐसी वैयक्तिक शैलियाँ चल पड़ी हैं, जिनकी अपनी कोई विशेष परंपरा नहीं हैं। ऐसे अनेक चित्रकार हमारे देश में विद्यमान हैं, जो इस क्षेत्र में मनमाने परीक्षण करते हैं। उन पर बहुधा विदेशी शैलियों का प्रभाव ही विशेष है।

उनमें से अधिकांश की प्रवृत्ति वैचित्र्यवाद की ओर अधिक है। कुछ चित्रकार ऐसे भी हैं, जो केवल ब्रश के कुछ झटकों से आकृतियां निर्मित कर उन्हें किसी विशेष अर्थ का द्योतक बनाते हैं। मानव शरीर-विज्ञान की दृष्टि से वे आकृतियाँ वास्तविक और संपूर्ण भी नहीं होतीं फिर भी वे किसी विशेष उद्देश्य की ओर संकेत करती हैं। इन सांकेतिक चित्रों को समझने के लिए विशेष ज्ञान और विवेचन की आवश्यकता होती है। इन्हें संकेतवाद की शैली कह सकते हैं।

इस प्रकार की दूसरी शैली आकृतिवाद की शैली है, जिसमें कुछ ज्योमिती की आकृतियों से चित्र की संपूर्ण रचना की जाती है। कुछ चित्रकार ऐसे हैं जो आकृतियों की सर्वांग पूर्णता में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि किसी क्रिया विशेष की अभिव्यक्ति के लिए कलम के कुछ सुझाव मात्र ही काफी हैं, संपूर्ण आकृतियाँ बनाने की आवश्यकता नहीं। ऐसे चित्रकार कलम के कुछ ही झटकों से नाना प्रकार के अर्थों की सृष्टि करते हैं। कला का यह वैचित्र्यवाद आधुनिक बुद्धिवाद का ही प्रतीक है और आधुनिक यांत्रिक जीवन का विशेष परिचायक है। धीरे-धीरे एक ओर हमारी कला यथार्थ से दूर हटकर कल्पना के झूले में झूल रही है, जिसका परिणाम यह हुआ कि कला जनसाधारण से दूर हटकर अपने अलग ही संसार की सृष्टि कर रही है।

परन्तु विपरीत इसके, ऐसे भी कुछ चित्रकार हमारे देश में विद्यमान हैं, जिन्होंने हमारे देश की लौकिक शैलियों को अपनाया है और जन-जीवन के अनेक चित्रों को कलम-बद्ध कर कला के लोकप्रिय पक्ष को पुष्ट किया है। जन-जीवन की ये झाँकियाँ न केवल हमारे सामाजिक जीवन को ही अभिव्यक्त करती हैं, वरन् हमारे दैनिक जीवन के उन दृष्यों को, जहाँ वेश-विन्यास और रंग-लालित्य की छटा निखर पड़ती है, अंकित करके कला को लोक-प्रिय बनाया है।

हमारी लोक-चित्रकला:--

भारतीय चित्रकला की मुख्य शैलियों के सम्बन्ध में ऊपर विचार हुआ और उनके अनेक नमूने यत्र-तत्र प्रदर्शिनियों और सार्वजनिक स्थानों में दृष्टिगत होते हैं; परन्तु उन चित्रों की तरफ कौन देखता है, जो हमारे घरों और चौराहों पर विभिन्न रूपों में प्रगट होते हैं। हमारे देश का कोई भी गाँव या शहर

ऐसा नहीं होगा, जहाँ लोक-जीवन इन चित्रों में व्यक्त न होता हो। इन चित्रों के लिए कहीं से शिक्षा नहीं ग्रहण करनी होती और न उनके लिए किसी शैली विशेष का प्रतिपादन ही आवश्यक होता है। मनुष्य अपने आनन्द और उल्लास के अवसरों पर इन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं और गहरे-हल्के रंगों से उस संसार को चित्रित करता है, जो उसका अपना है और जिस पर बनावटी दिखावे और प्रतिष्ठा की कोई भी छाप नहीं होती। इन चित्रों में उसका सच्चा हृदय अंकित रहता है और उन्हीं पर शिष्ट समाज की शिष्ट कलाओं के भवन आधारित रहते हैं। इन्हीं आडंबरहीन और मौलिक चित्रों से मनुष्य के सच्चे स्वभाव और वास्तविकता का पता लगता है। इन्हीं लोक-कलाओं में मनुष्य की सुन्दर भावनाओं का संसार छिपा रहता है, यदि इन्हें इनके जीवन से हटा लें तो जीवन जीने योग्य ही नहीं रहे। कला के इन नमूनों में यद्यपि कला की ऊँची उठान नहीं होती; परन्तु वे साधारण जन के सौन्दर्य पक्ष का अवश्य परिचय देते हैं। विवाह-शादियों के अवसर पर, घर की लिपी-पुती दीवारों पर देशी रंगों में जो अनेक चित्र बनाये जाते हैं वे बड़े अद्भुत होते हैं। उनमें भी ब्रश के कुछ ही झटकों से किसी स्थिति विशेष के सुझाव की प्रवृत्ति विशेष काम करती है और संपूर्ण आकृति बनाये बिना ही कुछ ही रेखाओं से प्रयोजन सिद्ध हुआ समझा जाता है। कुशल कलाकारों के लिए यह शैली अत्यन्त कठिन है, परन्तु जो कलाकार नहीं हैं और जो ऐसे चित्रों को किसी विशेष प्रेरणा से या भावोद्रेक की स्थिति में अंकित नहीं करते हैं, उनकी कलम से ऐसे चित्र स्वतः ही प्रकट होते हैं। इन्हीं अज्ञात चेष्टाओं से उत्पन्न ऐसी कलाओं के आधार पर ही शिष्ट जन अपनी शैलियों के शास्त्र निर्मित करते हैं। आदिवासियों के घरों की दीवारों पर जो चित्र अंकित होते हैं, वे मनोवैज्ञानिकों और कलाकारों के लिए अध्ययन की अच्छी सामग्री बन सकते हैं। वे बड़े-बड़े विषयों को कुछ ही रेखाओं और रंग के कुछ ही झटकों से व्यक्त करते हैं। ऐसे चित्र जीवन के विविध पहलूओं में देखे जा सकते हैं। विवाह, जन्म, त्यौहार, धार्मिक समारोह आदि उनके अंकन के लिए प्रबल साधन हैं। शिष्ट और शिक्षित समाज में इन चित्रों को रूप रंग मिलता है और वे अधिक आकर्षक ढंग से व्यक्त किये जाते हैं। अनेक प्रसंगों पर ऐसे चित्र देखे जा सकते हैं।

विवाह समारोह के समय जो हवन-कुन्ड आदि बनाये जाते हैं, उन्हें नाना प्रकार के बेलबूटों और चित्रों से सजाया जाता है। दक्षिण और मध्यभारत में प्रति-दिवस प्रातः काल अपने घरों के बाहर विविध रंगों की भुरकी से जो अल्पनाएँ बनाई जाती है, वे कला की अनुपम निधि हैं। राजस्थान आदि में आश्विन महीने में कुँआरी बालिकाएँ अपने घर के बाहर की दीवार पर नाना प्रकार के रंगों से जो संझाएँ आँकती है, वे कला की अनोखी देन हैं। विवाहोत्सव पर कुम्हार गणेश पूजा के निमित्त जो मटके लाता है, उन पर चित्रकला के अनुपम नमूने अंकित रहते हैं। राजस्थान के सुप्रसिद्ध गनगोर उत्सव पर जो मिट्टी और लकड़ी की गनगोरें बनाई जाती है, वे शिल्प और चित्रकला की दृष्टि से कला की अनुपन कृति है। लोक-चित्रकला के ऐसे ही अनेक प्रतीक हमारे देश में बिखरे पड़े हैं, जिनमें कला की अनुपन निधि तो निहित है ही साथ ही जनता की सच्ची संस्कृति के भी दर्शन होते हैं। इन कलाओं की सुरक्षा हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय कर्तव्य है।

भारतीय वास्तु और मूर्तिकला

भारतीय वास्तु और मूर्तिकला एक दूसरे से इतनी संबन्धित है कि उन्हें अलग-अलग करना बहुत ही कठिन है। गृह तथा वास्तु निर्माण के साथ ही मूर्ति और शिल्पकला का विकास हुआ है। भारतवर्ष की वास्तु के सर्वश्रेष्ठ नमूने हमें मंदिरों, विहारों तथा स्तूपों के रूप में मिलते हैं। इन धार्मिक स्थानों में हमारे प्राचीन धर्म-प्रिय कलाकारों ने मूर्तियाँ तो प्रतिष्ठित की हीं, परन्तु मंदिरों के अन्दर और बाहर आलंकरण के रूप में उन्होंने अनेक पौराणिक कथाओं को मूर्तियों में उत्कीर्ण किया। भारतवर्ष जैसे धर्म-प्रधान देश में भी साधारण गृहस्थी ने अपनी कला-प्रियता का परिचय अपने घरों को सुन्दर और कलात्मक बनाने में ही नहीं दिया वरन् उसने धार्मिक स्थानों को कलात्मक बनाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। यही कारण है कि भारतीय वास्तु के प्राचीनतम प्रतीक हमें खंडहरों, मंदिरों और विहारों के रूप में मिलते हैं।

सहस्रों वर्षों की समय की गति-विधियों तथा प्राकृतिक प्रकोपों के कारण अनेक प्रासाद, भवन तथा गृह धराशायी हुए। अतः यह पता लगाना बड़ा कठिन है कि हजारों वर्ष पूर्व भारतीय मकान किस प्रकार के थे। कुछ ही वर्ष पूर्व सिंध की घाटी में जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई हुई उससे ईसा से ३०० वर्ष पूर्व की संस्कृति का हमें पता लगा है। इन ध्वंसावशेषों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों सड़कें काफी चौड़ी होती थीं तथा मकानों की बनावट काफी सुन्दर थी। पानी की नहरों का भी उन नगरों में अच्छा प्रबन्ध था। उन में कुछ मूर्तियों के अवशेष भी मिले हैं जो उस समय की मूर्ति कला की ओर संकेत करते हैं। अत्यन्त प्राचीन वास्तु कला के प्रत्यक्ष नमूने हमें अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते। वैसे महाभारत तथा रामायण जैसे प्राचीन ग्रंथों में जिन कलाओं का उल्लेख हुआ है उनसे तो यही पता चलता है कि हजारों वर्ष पूर्व भी हमारे पूर्वज भवन-निर्माण कला के महान्

आचार्य थे। उस समय कई मंजिलों वाले भवन, स्वर्ण जटित अट्टालिकाएँ, मणि कांचन के झरोखे तथा मनोरम गवाक्षों का रोचक वर्णन मिलता है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इन ग्रंथों को प्रमाणिक नहीं मानते।

भारतीय वास्तु कला का सामंजस्य:–

भारतीय वास्तु तथा मूर्तिकला के अनेक रूप युगानुसार इतने अधिक बदलते रहे कि आज तो पुरातन और नवीन कला में बहुत ही कम समानता रह गई। इसका मूल कारण भारत के विदेशी आक्रमण तथा अनेक संस्कृतियों का मेल है। परन्तु भारत की कला और संस्कृति में इतना बल था कि सभी प्रकार की संस्कृतियों को उसने अपने में समा लिया और भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण रखा। सहस्त्रों वर्षों से हमारी संस्कृति विदेशी आक्रमणों से लड़ी, धार्मिक वातावरण में पली, तथा बाद में राजे महाराजों तथा नवाबों की शृंगारिक भावनाओं की पोषक बनी; आज वह आश्रयहीन होकर नवयुग की दहली पर मार्ग निर्धारण की प्रतीक्षा कर रही है। फिर भी उसने अपनी वास्तविकता और अपने भारतीय रूप को नहीं छोड़ा।

अत्यन्त प्राचीन धातु के नमूने केवल स्तूपों, गुफ़ाओं, विहारों तथा मंदिरों में उपलब्ध होते हैं।

अशोक-कालीन स्तूप:–

सम्राट अशोक ने अपनी प्रसिद्ध कलिंग-विजय के उपरान्त पश्चात्ताप स्वरूप बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया। अपनी धार्मिक वृत्ति और कला-प्रियता के परिचय स्वरूप उसने विविध स्थानों पर ऐसे स्तूप और तोरण बनवाये, जिनमें भारतीय मूर्ति-कला के उत्कृष्ट नमूने उत्कीर्ण किये गये। ऐसे भारतवर्ष में कुल १३ स्तंभ हैं, जो कला के अद्वितीय नमूने हैं। साँची के स्तम्भ उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। यह वह समय था, जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का प्रचार था और भगवान बुद्ध की मूर्ति-पूजा सर्वथा वर्जित थी। उस समय बौद्ध धर्म अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान था; अतः अशोक के समय के स्तूपों पर जहाँ विविध प्रकार की भावना-प्रधान मूर्तियाँ अंकित थीं, वहाँ बुद्ध की
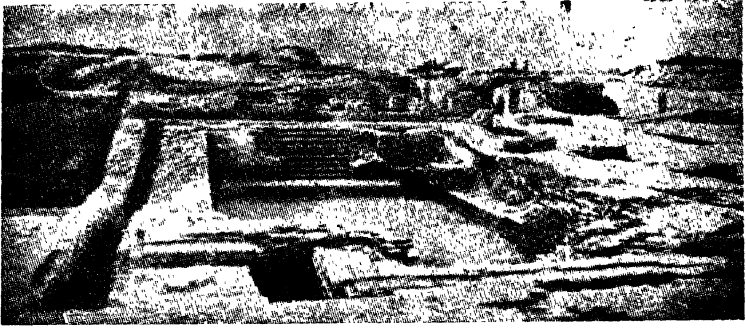
मोहन जोदड़ो का ध्वन्सावशेष तालाब
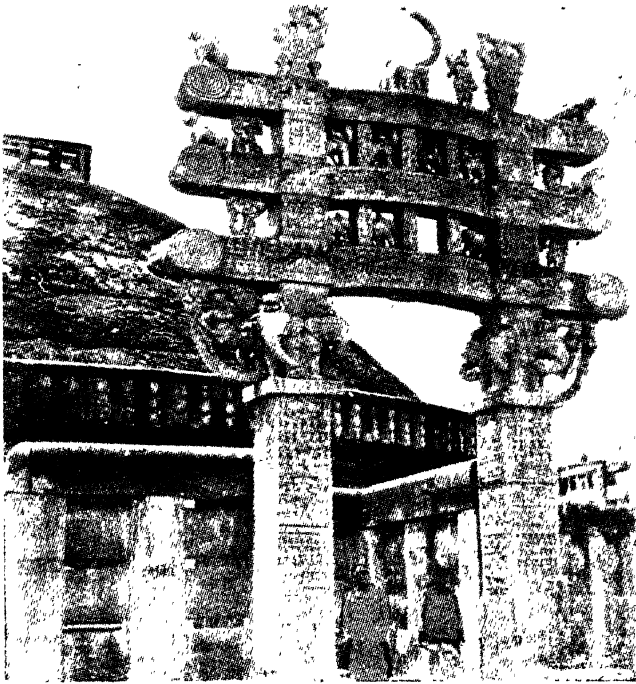
साँची के स्तूप का तोरण द्वार

अजन्ता की एक गुफा
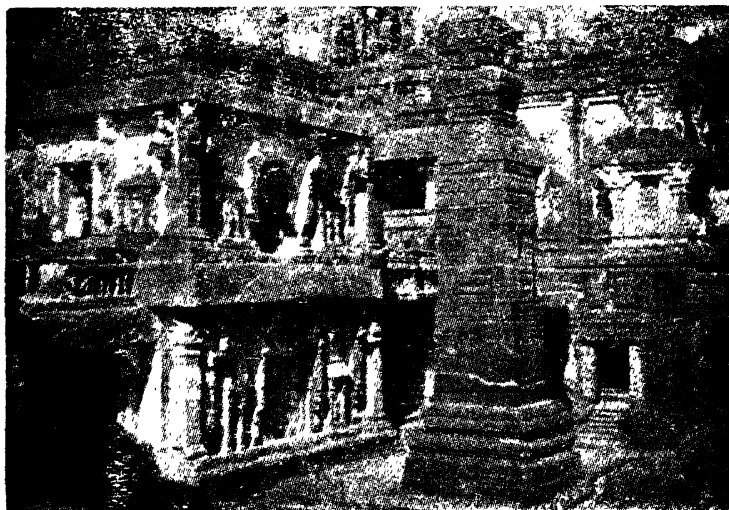
एलोरा की गफा

मूर्ति का अभाव था। बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएँ मूर्तियों के रूप में इन स्तूपों पर खुदी हुई थीं और जिस जगह भगवान बुद्ध की मूर्ति का प्रसंग था वहाँ केवल पुष्प का चिन्ह अंकित था। साँची इस प्रकार की कला का मूल केन्द्र था; साँची के बाद एक महत्वपूर्ण स्थान और है, जहाँ की कला-कृतियाँ इतिहास में आज भी अपना विशेष स्थान रखती हैं। वह है इलाहाबाद के पास के नागोदा नामक राज्य का भरहुत नामक स्थान है, जहाँ पर एक स्तूप प्राप्त हुआ है, जिसके तले का व्यास ६८ फुट का है। उस पर बौद्ध कथाओं की अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, उस में भी बुद्ध की मूर्ति का अभाव है।

बौध्द-कालीन गुफ़ाएँ:-

लगभग प्रथम शताब्दी में बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए पहाड़ों को काटकर अनेक गुफ़ाएँ बनाई गईं, उनमें पश्चिमी घाटों की गुफ़ाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। उनमें भाजा (पूना), वेदसा (पूना), पथिलाखोरा (खानदेश) तथा कौडिण्य (खानदेश) की गुफ़ाएँ प्रधान हैं। ये गुफ़ाएँ अजंता की गुफा जितनी सुन्दर नहीं हैं और न उनमें मूर्ति कला का इतना उत्कर्ष ही है। क्योंकि तब तक गुप्त काल की तरह मूर्ति और वास्तु कला इतनी विकसित भी नहीं हुई थी। ये गुफ़ाएँ भी बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए थीं। वह समय हीनयान बौद्ध धर्म का था, इसलिए जीवन में सादगी को विशेष स्थान था। ये गुफ़ाएँ किसी शासक द्वारा नहीं बनाई गई। उन्हें जन-साधारण ने अपनी धार्मिक भावना का परिचय देने के लिए खोदा। इन गुफ़ाओं में सूर्य और इन्द्र की कुछ अच्छी मूर्तियाँ हैं। ये उस समय की लोक कलाओं का अच्छा परिचय देती हैं। उड़ीसा और उदय-गिरी में भी उस समय की अनेक गुफ़ाएँ हैं, जो जैन धर्मावलम्बियों द्वारा जैन साधुओं के निवास के लिए अनवाई गई। ये सब गुफ़ाएँ बौद्ध धर्म के हीनयान संप्रदाय के समय बनी, जब कि जीवन का सादा और आडंबरहीन रूप ही विशेष प्रचलित था और भारतीय कला में विदेशी प्रभाव नहीं के बराबर था।

इन गुफ़ाओं की विशेषता इसी में थी कि इन्हें किसी राजा, धर्माधिकारी या धनी मानी व्यक्ति ने नहीं बनवाया। जैन तथा बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी आराधना, साधना के निमित्त स्वयं इन्हें खोदा तथा सजाया, संवारा। वे पेशेवर

कलाकार नहीं थे। अपनी भक्ति की प्रेरणा से उनके हृदय में जो भी भावना प्रकट होती थी, उसे उन्होंने चित्रों में व्यक्त किया। इसीलिए लोक-कला का इन गुफ़ाओं में बड़ा सुन्दर व्यक्तिकरण हुआ है।

उसके बाद दूसरी शताब्दी मे बौद्ध धर्म का महायान रूप प्रकट हुआ और हीनयान समाप्त हुआ। बौद्ध धर्मावलम्बियों में अब सादगी और गम्भीर चिन्तन की जगह आनन्द और उल्लास की भावना ने प्रवेश किया और बौद्ध आराधनाओं में भगवान बुद्ध का साकार रूप प्रकट हुआ। इसके फलस्वरूप अब बौद्ध मंदिरों, विहारों तथा गुफ़ाओं में बुद्ध की प्रतिमायें प्रतिष्ठित होने लगीं। यह परिवर्तन उस समय की समस्त कलात्मक कृतियों के लिए वरदान के रूप में आया। बौद्ध धर्म के इस स्वरूप को अनेक सम्राटों ने स्वीकार किया और उसके फल स्वरूप अनेक बिहार तथा स्तूप निर्मित हुए।

वास्तु तथा मूर्ति कला की दृष्टि से सबसे अधिक महिमाशाली युग गुप्त सम्राटों का था। उनमे समुद्रगुप्त कला और संस्कृति का बहुत बड़ा पोषक था। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त इतिहास का गौरव-पूर्ण सूर्य था। उसी के समय में विश्व विख्यात अजंता की गुफ़ाएँ खोदी गईं। ये गुफ़ाएँ हैदराबाद के फरदापुर नामक गाँव की पहाड़ियों में स्थिल हैं। आज से १०० वर्ष पूर्व इन गुफ़ाओं को कोई नहीं जानता था। उस समय इनमें जंगली पशु और पक्षी रहा करते थे। किसी का ध्यान ही उस ओर नहीं गया। सर्व प्रथम इनका पता एक अंग्रेजी फौजी टुकड़ी द्वारा लगा। उसके बाद भारतीय पुरातत्व विभाग ने विश्व की इन सर्वोत्कृष्ट गुफ़ाओं के विषय में छानबीन शुरू की। एक अर्ध गोलाकार पहाड़ी के मध्य भाग को काटकर ये गुफ़ाएँ बनाई गई थीं। यहाँ पर कुल २९ गुफ़ाएँ है, जो अलग—अलग समय में बनाई गईं। एक ही पत्थर को काटकर उसके अन्दर अलग-अलग कमरे और मूर्तियाँ बनाई गईं। इन कमरों की दीवारों को विशेष प्रकार से छीलकर उनपर किसी विशेष सामग्री से बना हुआ लेप लगाया गया। उसी पर सैकड़ों वर्षों तक स्थायी रहने वाले रंगों से चित्र बनाए गये। ये चित्र भगवान बुद्ध के जीवन के अनेक कथानकों से संबन्धित हैं। बुद्ध सम्बन्धी चित्रों के अलावा राजसभा और राजकीय जीवन से संबन्ध रखने वाली फुटकल कथाएँ भी हैं। १९ वीं गुफा का द्वार
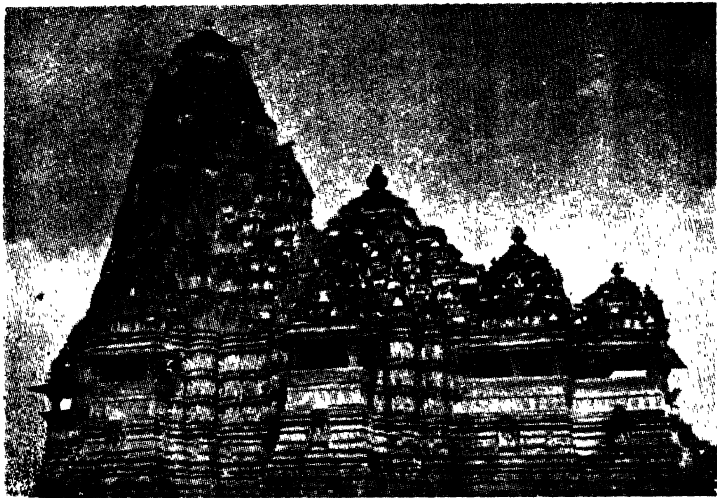
कंडरियानाथ महादेव का मन्दिर—खजराहो
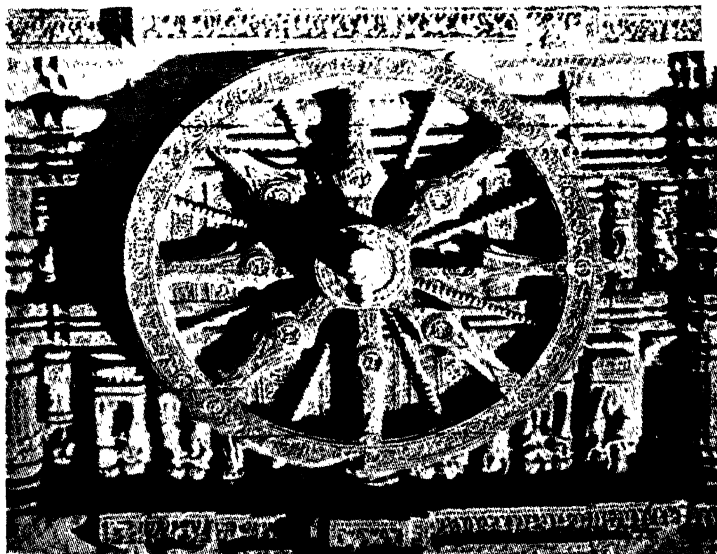
सूर्य मंदिर का रथ-चक्र—कोणार्क

देलवाड़ा जैन मंदिर के अन्दर का दृश्य– आबू

इस समय की कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इन गुफ़ाओं में जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, उनमें भावुकता और आध्यात्मिकता की छटा देखने योग्य है। इन गुफ़ाओं मे दो प्रकार की गुफ़ाएँ हैं, एक तो स्तूप गुफ़ा और दूसरी विहार गुफ़ा। स्तूप गुफ़ा आराधना, प्रार्थना तथा धार्मिक साधनाओं के लिए बनी हैं और विहार गुफ़ाएँ निवास के लिए। १९वीं गुफ़ा स्तूप गुफ़ा ही है और उसकी मूर्तियाँ भव्य और भावना प्रधान हैं। शेष गुफ़ाएँ विहार गुफ़ाएँ हैं, जिनमें भिक्षुगण निवास करते थे। विहार गुफ़ाओं का शिल्प स्तूप गुफ़ाओं से सादा और आडम्बरहीन है। इन सभी गुफ़ाओं की विशेषता इन शिल्पों से भी अधिक उनके चित्रों में है। सधे हुए और कलापूर्ण हाथों द्वारा वे चित्र बनाये गये हैं। इन चित्रों में ऐसे सौन्दर्य की रचना की गई थी, जिन्हें देखकर आज का सभ्य संसार आश्चर्य चकित है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त ने ही नालंदा विश्वविद्यालय बनवाया। यह उस समय का सबसे बड़ा विहार था। यह विहार यद्यपि पहाड़ी चट्टानों में नहीं खोदा गया था वरन् उसकी शैली गुफ़ाओं की सी थी। उस समय बौद्ध गुफ़ाएँ तथा बौद्ध विहार एक ही अभिप्राय से बनाये जाते थे। दोनों में अध्ययन, निवास तथा प्रार्थना आदि का प्रबन्ध रहता था। आधुनिक बिहार प्रान्त में किसी समय अनेक बौद्ध विहार विद्यमान थे, इसीलिए इस प्रान्त का नाम बिहार पड़ा। परन्तु अब उन विहारों का वहाँ कोई अस्तित्व भी नहीं है। केवल वे ही विहार अब तक कायम रहे जो पहाड़ी चट्टानों में खोदे गये थे। नालंदा विद्यालय भी इस प्रकार का एक बहुत बड़ा विहार था। उसमें देश विदेश के छात्र तथा भिक्षुगण धर्म, दर्शन, व्याकरण तथा ज्योतिष आदि की शिक्षा ग्रहण करने आते थे। चीनी यात्री ह्यूनसांग ने इस विहार को देखा था। उसने अपनी यात्रा के वर्णन में इसका बड़ा रोचक वर्णन किया है। यहाँ शिक्षार्थियों के रहने का प्रबन्ध था। यहाँ जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। दुर्भाग्य से भारत के इस सबसे बड़े विहार का कोई चिन्ह भी शेष नहीं है।

गुप्त कालीन इस सर्वाङ्ग पूर्ण कला के पश्चात् कई वर्षों तक ऐसी स्फूर्ति दायिनी और भावना प्रधान कला के कहीं दर्शन ही नहीं हुए। लगभग

२०० वर्ष तक किसी भी महत्वपूर्ण कलाकृति का जन्म ही नहीं हुआ। केवल ६००–६०० ईस्वी के बीच में वास्तु कला के तीन प्रतीक गुफ़ाओं के रूप में हमें उपलब्ध हुए। यह समय बौद्ध धर्म के ह्रास और वैष्णव धर्म के उत्कर्ष का था; अतः इन गुफ़ाओं में वैष्णव तथा जैन मूर्तियाँ निर्मित हुईं। इन में से एक एलोरा नामक गुफ़ा हैदराबाद में स्थित है। उसमें वैष्णव मूर्तियों के साथ जैन मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। दूसरी गुफ़ा एलीफेन्टा है जो बम्बई के पास एलोरा की तरह ही पहाड़ काटकर बनाई गई है। इन दोनों गुफ़ाओं की कला इस युग की अद्भुत शिल्प कला की परिचायक है और तात्कालीन वैष्णव सम्प्रदाय की आलंकारिक और रस-प्रधान कला का परिचय देती हैं। तीसरी गुफ़ा दक्षिण भारत में समुद्र के किनारे पर स्थित मायल्लपुरम नाम की गुफ़ा है जो चट्टान काटकर मंदिर के रूप में खोदी गई है। वास्तु कला की दृष्टि से यह गुफ़ा संसार की एक अनोखी वस्तु है। यहाँ पर एक मूर्ति भागीरथ की तपस्या की है जो जमीन से ५८ फुट ऊँची है।

मंदिरों की वस्तु तथा मूर्ति कला:--

छटी शताब्दी तक भारतीय आराधना गृहों का रूप अधिकतर विहारों, स्तूपों तथा गुफ़ाओं तक ही सीमित रहा है क्योंकि तब तक बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा का विशेष महत्व नहीं था और वैष्णव और शैव धर्म का पूरा विकास नहीं हुआ था। वैष्णव धर्म का उत्कर्ष तथा ब्राह्मण धर्म का उत्थान अधिकतर गुप्त सम्राटों के समय में हुआ। वैष्णव धर्म में परमेश्वर के साकार रूप की विशेष महिमा है और जीवन में कलात्मक और रसपूर्ण पक्ष के विकास की विशेष सामग्री रहती है, इसीलिए मूर्ति पूजा और भक्ति की अनेक सरस धाराएँ उस समय प्रवाहित हुईं। वैष्णव धर्म का यही कला पक्ष गुप्त-कालीन मंदिरों की उत्कृष्ट कला के रूप में निखर पड़ा। गुप्त-कालीन मंदिर एक ऊँचे चबूतरे पर बनते थे। उन पर चढ़ने के लिए चारों तरफ से सीढ़ियाँ होती थीं। मंदिरों के ऊपरी भाग में शिखर होते थे। मंदिर का अंतरंग भाग गर्भ-गृह कहलाता था और उसमें मूर्ति स्थापित की जाती थी।

इस काल के निम्नलिखित मंदिर आज भी संपूर्ण या खंडहरों के रूप में विद्यमान हैं।

(१) देवगढ़ का दशावतार मंदिर:—यह झांसी के पास स्थित है उसमें गुप्त कालीन मंदिरों की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। यह ऊँचे चबूतरे पर बना हुआ है तथा उसके चारों तरफ प्रदक्षिणा के लिए स्थान है। इसके गर्भ-गृह के चार द्वार हैं।

(२) भूमरा का शिव मंदिर:—यह मध्यप्रान्त में जबलपुर के पास स्थित है। इसका केवल गर्भ-गृह ही शेष रह गया है। खंडहरों से यह प्रतीत होता है कि गुप्त-कालीन शैली के मंदिरों की सभी विशेषताएँ इस में विद्यमान है। गर्भ-गृह में शिव प्रतिमा का आधा भाग नष्ट हो चुका है। इस मूर्ति के दोनों तरफ गंधर्वों की मूर्तियाँ खुदी हुई है। खंडहरों के पत्थरों पर विविध प्रकार के संगीत-वाद्य तथा वाद्यकार बने हुए है। यह मंदिर पांचवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इस शैली के और भी कई मंदिर मध्यभारत में पाये गये हैं, जो गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि ६००—९०० ईस्वी का समय कला की दृष्टि से अत्यन्त शिथिल रहा है। उस काल में केवल दो तीन ही गुफ़ाएँ निर्मित हुईं। उसके बाद हमारी स्थापत्य कला प्राणहीन सी हो गई। इस काल में बनी हुई मूर्तियों में वह भाव प्रधानता और आध्यात्मिकता अब नहीं रही। जीवन में धार्मिक भावना कम हो जाने से कलाकार में व्यवसायिक बुद्धि का विकास हुआ और वह अपनी छेनी से चमत्कार उत्पन्न करने लगा। अब वह कलाकार न रहकर केवल एक शिल्पी मात्र बन गया। उसकी कला में भावाभिव्यंजना की अपेक्षा अलंकरण की मात्रा बढ़ गई। इस काल के स्थापत्य को देखकर हमें भान होने लगता है कि जैसे शिल्पकारों ने पत्थरों को काटने के बजाय लकड़ी को तराशा है। इस दृष्टि से खुजराहो के शिव मंदिर इस काल की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यहाँ अनेक जैन तथा शिव मंदिर हैं, जिनमें कंडरियानाथ का शिव मंदिर सर्व श्रेष्ठ है। इस मंदिर का प्रत्येक अंश अतिशय सुन्दर मूर्तियों से उत्कीर्ण है। ग्वालियर किले में स्थित सास-बहू का मंदिर तथा आबू के विमलशाह और तेजपाल के जैन मंदिर भी इसी शैली के हैं। वे अपनी सुन्दरता में अद्वितीय हैं। इनका अलंकरण अत्यन्त आकर्षक और विस्मय कारी है; परन्तु उनमें पुनरावृत्ति बहुत है अथवा एक ही रचना कई बार

दोहराई गई है। उड़ीसा स्थित पुरी का मंदिर भी इसी समय का है। कोणार्क के मंदिर की स्थापत्य कला भी इसी तरह अतिशय अलंकृत है। वह रथ के आकार का मंदिर है और उसके भीमकाय पहिये अत्यंत भव्य और कला पूर्ण हैं।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में भारतीय मूर्तिकला के अनेक अलंकृत रूप हमें उपलब्ध हुए और हमारी कलात्मक धरोहर की अनेक शृंगारिक कला-कृतियों से अभिवृद्धि हुई; परन्तु यह प्रगति अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी। १३वीं शताब्दी के बाद तो हमारी मूर्ति कला में कोई प्राण ही नहीं रहे। इस समय जितने भी मंदिर बने उनमें सजावट, बेल-बूटों तथा पच्चीकारी को विशेष स्थान था और मूर्तियों के चेहरों पर कोई भाव नहीं थे। इसका मूल कारण मुस्लिम स्थापत्य का प्रभाव है। इस्लाम धर्म में मूर्ति पूजा का कोई स्थान नहीं होने से समस्त मुस्लिम स्थापत्य में बेल-बूटों और नक्काशी की ही प्रधानता रही। भारतवर्ष के मुख्य-मुख्य केन्द्रों में मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव अवश्य था, परन्तु कुछ राजस्थानी रियासतों में राजपूतों के शौर्य और प्रताप से हिन्दू संस्कृति के अवशेष बचे रह गये। मेवाड़ के महाराणाओं का चित्तौड़गढ़ इस संस्कृति का मूलाधार था। १५वीं शताब्दी में यहाँ ऐसे मंदिर बने, जिनमें मूर्ति कला का परम उत्कर्ष प्रकट होता है। उनमें राणा कुम्भा का कीर्ति स्तम्भ और मीराँ का मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी मूर्तियाँ आकर्षक अवश्य हैं परन्तु भावहीन और अकड़ी-जकड़ी हैं। मूर्ति कला के इस पतन के समय भी चित्तौड़गढ़ और कुम्भलगढ़ ने मूर्ति कला के कुछ उत्कृष्ट नमूने प्रदान किये हैं। ये दोनों ही किले बाहरी प्रभावों से दूर रहे और इन्होंने हिन्दू-संस्कृति और कला की रक्षा में बड़ा महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। आज भी कुम्भलगढ़ में अनेक ऐसे मंदिरों के खंडहर हैं जिनमें मूर्ति-कला के उत्कृष्ट नमूने उपलब्ध होते हैं।

सोलहवीं शताब्दी के बाद की अधिकांश वास्तु कला मुस्लिम स्थापत्य से प्रभावित है, क्योंकि उस समय तक मुगल साम्राज्य की जड़ें काफ़ी जम चुकी थीं। उस समय जितनी भी ईमारतें बनीं वे सब बेल-बूटों, फूल-पत्तियों तथा अलंकारिक आकृतियों से परिपूर्ण थीं।
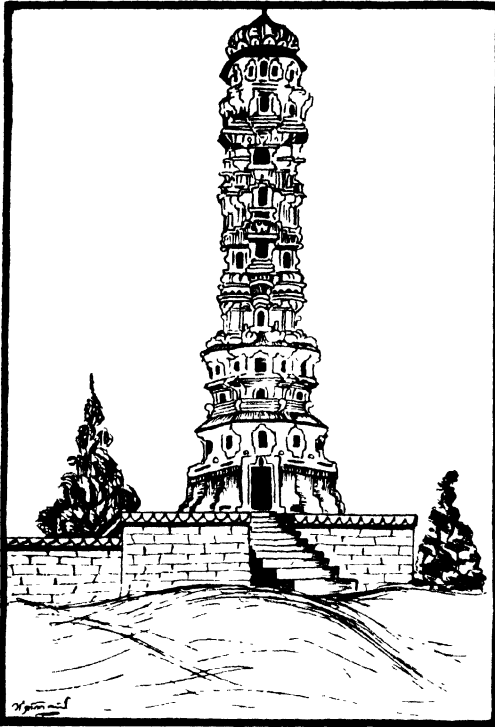
कीर्ति स्तम्भ
चित्तौड़गढ़

लाल किला
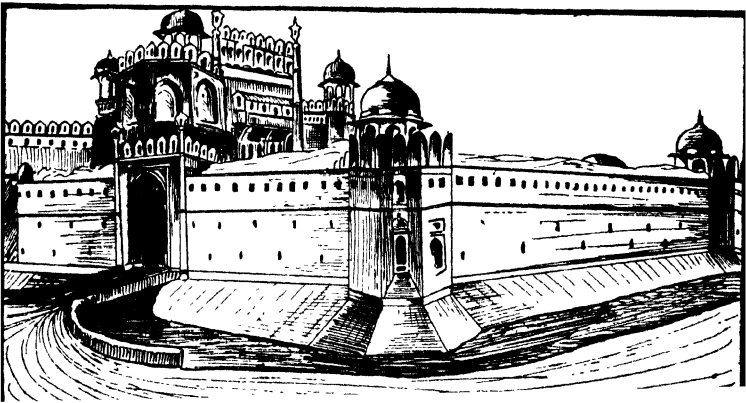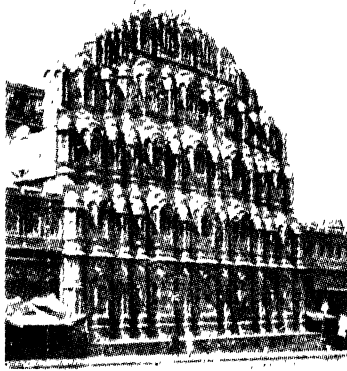
हवा महल--जयपुर
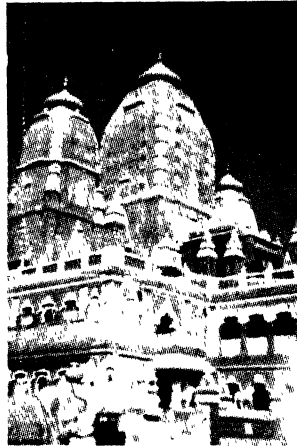
बिड़ला मन्दिर--दिल्ली

मुस्लिम मकबरे, मसजिदें तथा राजप्रासादः—

पूर्व मुस्लिम काल में, जो स्थापत्य मंदिरों और धार्मिक स्थानों में समाविष्ट था, वह राजप्रासादों, राजभवनों, मस्जिदों और मकबरों में केन्द्रित हो गया यद्यपि इन इमारतों में भारतीय मूर्ति कला के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते थे, परन्तु फिर भी उनमें भारतीय वास्तुकला की छाप स्पष्ट है। स्वयं मस्जिदों में भी विशुद्ध मुस्लिम शैली नहीं मिलती। उन सबमें भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। जौनपुर की मुस्लिम इमारतों में तथा अहमदाबाद की मस्जिदों में अधिकतर भारतीय स्थापत्य का ही अनुसरण किया गया है। अजमेर का ढाई दिन का झोंपड़ा तो मस्जिद के रूप में बिना मूर्ति का मंदिर ही है। मुगल शासन के पूर्व की जितनी भी मुस्लिम इमारतें है उनमें हिन्दू स्थापत्य का विशेष अंश है, क्योंकि वे या तो मंदिरों के टूटे हुए अंशों से बनाई गई या उन्हें बनाने वाले अधिकांश कारीगर हिन्दू थे। परन्तु मुगल शासन काल में अनेक फारसी और भारतीय कारीगरों की मदद से मुस्लिम इमारतों में हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्या का बड़ा सुन्दर सामंजस्य हुआ। अकबर की बनवाई हुई फतहपुर सीकरी की इमारतें इस सामंजस्य की ज्वलंत उदाहरण हैं। दिल्ली स्थित जामा मस्जिद तथा आगरा में जोधाबाई का महल हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य के बड़े सुन्दर नमूने हैं। ये सब इमारतें अकबर की धार्मिक सहिष्णुता के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। उसके दरबार में अनेक हिन्दू कलाकार भी थे; जिनका वह बड़ा आदर करता था। उसने अपनी हिन्दू सम्राज्ञियों के लिए हिन्दू मंदिर भी बनवाये।

जहाँगीर अपने पिता की तरह ही बड़ा उदार सम्राट था। उसकी बनवाई इमारतों में भी हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य का बड़ा सुन्दर सामन्जस्य हुआ है। उसका बनवाया हुआ आगरा का किला तथा लाहौर और काश्मीर के शालीमार बाग़ हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य के बड़े सुन्दर नमूने हैं। सम्राट शाहजहाँ को तो इमारतें बनवाने का सबसे अधिक शौक था। उसके जीवन में हिन्दू संस्कारों का सबसे अधिक योग था। उसका कला प्रेम तो जगत विदित है ही। उसके बनवाये हुए ताजमहल ने उसे भारतीय इतिहास में सदा के लिए अमर कर दिया है। उसे उसने अपनी प्रिय पत्नी अर्जुमन्दबानू की स्मृति में बनवाया था। इसकी

गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ इमारतों में होती है। इसे बनवाने में तीन करोड़ रुपये खर्च हुए और अनेक हिन्दू और फारसी कारीगरों ने मिलकर इसे ३० वर्ष में बनाया। इसकी कारीगरी और पच्चीकारी को देखकर आज संसार भर के कलाविद आश्चर्य चकित हैं। इस इमारत में शाहजहाँ के उज्जवल पत्नी-प्रेम और उसकी धार्मिक भावना को मूर्त रूप मिला है। दिल्ली के लाल किले में स्थित दीवान-ए-आम और दीवान-ए-खास शाहजहाँ ने ही बनवाये थे। ये इमारतें अतिशय बारीक और कलात्मक कारीगरी के लिए प्रसिद्ध हैं। आगरे की मोती मस्जिद भी शाहजहाँ ने ही बनवाई थी। कला की दृष्टि से ये सभी इमारतें अपनी सानी नहीं रखतीं।

इन सभी इमारतों में सिवाय नक्काशी और बेल-बूटों के मूर्तियों को कहीं स्थान नहीं मिला है। इस समय की समस्त वास्तु और शिल्प कला कब्र, मकबरों और मस्जिदों के रूप में ही व्यक्त हुई। जिस प्रकार प्राचीन युग में हिन्दुओं की अतिशय गहन धार्मिक भावना ने मंदिरों की उत्कृष्ट कला को जन्म दिया, उसी तरह मुगल बादशाहों की धार्मिक भावना मस्जिदों और मकबरों में व्यक्त हुई।

राजपूत वास्तु कला:–

शाहजहाँ की मृत्यु से भारतीय शिल्पकला को बड़ा धक्का लगा तथा औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता ने भारतीय कला की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। उसके बाद मुगल सम्राटों और नवाबों की परंपरा में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रहा जिसने भारतीय शिल्प को पुनः जागृत किया हो। मुगल सम्राटों के दरबार में जिन कलाओं को आश्रय प्राप्त हुआ, वे अब वहाँ से आश्रय-च्युत होकर राजा महाराजाओं के दरबारों में प्रतिष्ठित हुई। तथा मुगल शासन काल में जो कलात्मक परंपराएँ बनी उन्हें इन राजे महाराजाओं ने सुरक्षित रखा। जयपुर, ग्वालियर, जोधपुर, बीकानेर तथा अलवर इन कलाओं के प्रमुख केन्द्र थे। इन राजाओं की लगभग दो पीढ़ियाँ दिल्ली के बादशाहों से संबन्धित रही तथा उनकी संस्कृति से प्रभावित हुईं, यही कारण है कि उदयपुर को छोड़कर लगभग सभी रियासतों ने कला, भाषा तथा वेशभूषा की दृष्टि से

दिल्ली का अनुकरण किया। जयपुर की लगभग सभी इमारतें मुगल वास्तु की नकल मात्र हैं। राजमहलों से लेकर साधारण गृहस्थ के घर तक मगल वास्तु कला की शैली पर बने हुए हैं।

जयपुर महाराजाओं की परंपरा में महाराज जयसिंह सब से बड़ा वास्तु निर्माता था। जयपुर के त्रिपोलिया महल, हवामहल तथा जंतर-मंतर में राजपूत और मुगल वास्तु का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। आमेर के महल हिन्दू और मुस्लिम कला के समन्वय के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वास्तु कला का यह समन्वय बीकानेर, जोधपुर तथा अन्य राजस्थानी रियासतों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

आधुनिक वास्तु कला:—

आधुनिक युग को वास्तु कला की दृष्टि से अत्यन्त हीन युग समझना चाहिए। इस बीच हमारा देश अनेक संघर्षों और आन्दोलनों के बीच गुजरता रहा और हमारी समस्त शक्तियाँ राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने तथा विदेशी शासन से भारतवर्ष को स्वतंत्र करने में लगीं। इसके साथ ही आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी हमें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। अतः कलात्मक विकास तथा निर्माण कार्य में प्रवृत्त होने का हमें अवसर ही नहीं मिला। न हमारे देश में अब वह धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना ही रही, जिसके फलस्वरूप हमें कला और संस्कृति के इतने सुन्दर प्रतीक उपलब्ध हों। आज हम अपने जीवन की अनेक समस्याओं में ही उलझ गये तथा हमारी समस्त कलात्मक प्रवृत्तियाँ निर्जीव बनी रहीं। न हमारे देश में ऐसा शक्तिशाली सम्राट ही बच रहा, जिसने चाहे अपनी कीर्ति को अमर करने के लिए ही क्यों न हों, किसी सुन्दर कलाकृति को जन्म दिया हो। न कोई ऐसा धार्मिक प्रवाह ही इस युग में आया जिसने कला का कोई साकार रूप हमारे सम्मुख उपस्थित किया हो। इस दृष्टि से दिल्ली का बिड़ला मंदिर उल्लेखनीय अवश्य है, परन्तु उसकी कला इतनी निर्जीव और सस्ती है कि उसे भारतीय कला कहने में भी संकोच होता है।

आधुनिक समय के वास्तु और स्थापत्य के नमूने हमें भारत के बड़े-बड़े शहरों में दिखाई पड़ते हैं। उनमें धनिकों की इमारतें, सरकारी भवन,

स्कूल, कालेजों के भवन तथा धर्मशालाएँ और कारखाने है। इनमें किसी में स्वतंत्र कला की झलक नहीं देख पड़ती। कुछ में तो कला और सुन्दरता का कोई ध्यान ही नहीं रखा गया है। कुछ में पाश्चात्य कला की भद्दी नकल मात्र दिखलाई पड़ती है। न उनमें पाश्चात्य कला का सौन्दर्य ही है और न भारतीय और पाश्चात्य कला का सामंजस्य ही। नई दिल्ली की समस्त सरकारी इमारतें पश्चिमी कला के अच्छे उदाहरण हैं। कुछ में तो इंग्लैन्ड की वास्तु कला की हूबहू नकल की गई है। कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल तो जैसे इंग्लैन्ड से उठाकर भारत भूमि पर स्थापित किया गया है। वर्तमान भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी अभी तक भारतीय वास्तु का कोई रूप निर्धारित नहीं हुआ है। एक स्वतंत्र राष्ट्र की शान के लिए उसकी कला का कोई गौरव शाली रूप होना ही चाहिये।

भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की पृष्ठ भूमि:--

भारतीय नाट्य, नृत्य तथा संगीत की उत्पत्ति एक ही समय और सामान्य परिस्थितियों में हुई। आदि काल में प्राकृतिक देवताओं को रिझाने के लिए सामूहिक नृत्य और सामूहिक गीतों की सृष्टि हुई और ये ही गीत धीरे-धीरे लोक रुचि से हटकर विशिष्ट जनों द्वारा परिपुष्ट किये गये और शास्त्रीय गीतों के रूप में विकसित हुए। आर्यों के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में जिस संगीत की सृष्टि हुई वही हमारा प्रारम्भिक संगीत है। उस संगीत का रूप दक्षिण भारत के अलावा कहीं विद्यमान नहीं है। उत्तर भारत में जो संगीत आज विद्यमान है, वह विशुद्ध भारतीय संगीत नहीं है। उसमें कई विदेशी शैलियों का मिश्रण होने से आज भारतीय संगीत की दो शैलियाँ बन गई हैं। एक उत्तर भारत की हिन्दुस्तानी पद्धति और दूसरी दक्षिण भारत की कर्नाटकी पद्धति। ये दोनों शैलियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और दोनों के शास्त्रीय नियमों में भी विशेष साम्य नहीं है।

भारतीय प्राचीन कलाएँ जिस तरह सरल, अलंकरण से हीन तथा गंभीर हुआ करती थीं, उसी तरह हमारा प्राचीन भारतीय संगीत भी बहुत सरल और गंभीर था; परन्तु नवीन संगीत अन्य नवीन कलाओं की तरह ही चंचल और कल्पना प्रधान है। उसकी ये सब विशेषताएँ उसपर विदेशी प्रभाव के कारण हैं। भारतीय संगीत की ध्रुपद प्रणाली हमारे प्राचीन संगीत का ही रूप है। उसकी प्रकृति गंभीर, सरल और भावना प्रधान है। इसी ध्रुपद संगीत का प्राचीन समय में उत्तर और दक्षिण भारत में बड़ा प्रचार था; परन्तु आज तो उसका समस्त रूप ही बदल गया। उत्तर भारत में जो ध्रुपद संगीत विद्यमान है, वह प्राचीन संगीत के साथ बहुत कम मेल खाता है। विदेशी प्रभावों के कारण ही हमारे ध्रुपद संगीत में भी यह रूपान्तर हुआ है। कर्नाटकी ध्रुपद की मौलिकता और स्वाभाविकता तो आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

प्राचीन ध्रुपद शैली में वीरता और प्रेम के विषयों का प्राधान्य था, क्योंकि वह समय युद्धों और संघर्षों का था; प्रारम्भिक आर्यों को अपने राज्य के स्थायित्व के लिए कितने ही युद्ध लड़ने पड़े थे। साथ ही प्रेम और शृंगार का उनके कलात्मक जीवन में बड़ा महत्व था, इसलिए ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ प्राचीन संगीत में बहुतायत से मिलती हैं। प्राचीन आर्य कला के मर्मज्ञ थे, उनके राज्य में बड़े-बड़े गायक आश्रय पाते थे। वे अपने राजकुमारों के लिए संगीत सीखने की व्यवस्था करते थे। प्रातःकाल राजाओं को संगीत की मधुर स्वर लहरियों से जगाया जाता था। जन्म, विवाह आदि अवसरों पर समृद्धिशाली लोग गणिकाओं को नृत्य गान के लिए बुलाया करते थे। प्राचीन चित्रों से यह भी ज्ञात होता है कि मंदिरों में गंधर्व संगीत और नृत्य किया करते थे तथा वीणा, वेणु, मृदंग, डफ़, चंग आदि का प्रयोग प्रचुरता से होता था। वह समय भारतीय कलाओं की समृद्धि का था। वे आशावादी थे और उनके जीवन में उल्लास और आनन्द का विशेष महत्व था। उस समय अनेक राजनैतिक संघर्षों में निरत रहते हुए भी उनके जीवन में जीने का स्वस्थ दृष्टिकोण था। यह स्थिति काफ़ी लम्बे समय तक बनी रही।

मध्यकालीन परिस्थिति:--

परन्तु मध्ययुग में हमारी सामाजिक, पारिवारिक तथा राजनैतिक समस्याओं ने हमारे जीवन के स्वाभाविक सौन्दर्य को छीन लिया। भारतवर्ष अनेक राजनैतिक संघर्षों का केन्द्र बन गया और अनेक विदेशी प्रभावों से उसकी आत्मा कंपित हो उठी। यही एक बहुत बड़ा कारण है, जिसने दक्षिण और उत्तर भारत को साथ में जीवित नहीं रहने दिया। कई वर्षों तक भारतीय जीवन में कला की दृष्टि से घोर शिथिलता छा गई। भारतवासी अपनी ही घरेलू समस्याओं में उलझ गये। तदुपरान्त मुस्लिम आधिपत्य के साथ अनेक विदेशी प्रभावों ने हमारी अनेक सुन्दर परंपराओं को बदल दिया। उत्तर भारतीय संगीत पर भी यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के संसर्ग में एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके सर्वप्रथम उन्नायक अलाउद्दीन खिलजी के राजदरबारी कवि अमीर खुसरो थे। वे फ़ारसी और अरबी के अद्वितीय विद्वान् और संगीत के आचार्य थे। उन्होंने

भारतीय संगीत में भी फ़ारसी गायकी की नाज़ुक ख़्याली का प्रादुर्भाव किया तथा भारतीय और फ़ारसी राग मिलाकर मुल्तानी, गारा, साज़गिरी, ज़ीलफ और सरपरदा जैसे रागों की सृष्टि की। दिलरुबा, सारंगी, सरोद, तबला, सितार, ढोल जैसे वाद्य भी हमें अमीर ख़ुसरो की कृपा से ही प्राप्त हुए। उनके रचे हुए अनेक हिन्दी, उर्दू गीत भी हमें उपलब्ध होते हैं।

भारतीय संगीत को मुगल सम्राटों के समय काफ़ी प्रोत्साहन मिला। सम्राट अकबर तो संगीत का बहुत बड़ा पोषक और ज्ञाता था। उसका समय भारतीय कलाओं का स्वर्ण युग था। उसके राज्य में हिन्दू, ईरानी, तूरानी तथा काश्मीरी संगीतज्ञ विद्यमान थे। अकबर स्वयं बहुत बड़ा गायक था तथा नक्कारा बजाने में प्रवीण था। उसके राज्य में अब्दुर्रहीम जैसा गायक और कवि था। तानसेन उसके राज्य का रत्न था। उसके गुरु स्वामी हरिदास और गुरुभाई बैजू बावरा भी अकबर के राज्य काल ही में थे। उनके संगीत-ज्ञान की ख्याति समस्त भारत में व्याप्त थी। स्वामी हरिदास अपने समय के माने हुए वैष्णव भक्त थे और अपने को ललिता सखी का अवतार कहते थे। भक्ति की प्रेरणा से वे गीत रचते और उन्हें ध्रुपद गायकी में गाते थे। उनके रचे हुए अनेक ध्रुपद आज भी विद्यमान हैं। उनकी कीर्ति समस्त भारतवर्ष में व्याप्त थी और अनेक कलाकार उनसे संगीत की शिक्षा ग्रहण करने आते थे। उनके प्रमुख शिष्य तानसेन, रामदास, बैजूनायक, पंडित दिवाकर, गोपाल आदि थे। उस समय के अधिकाँश गायक स्वामी हरिदासजी की ही शिष्य परंपरा में थे। उनकी कीर्ति सुनकर अकबर ने उन्हें अपने दरबार में आमंत्रित किया था, परन्तु जब उन्हें किसी राजा के दरबार में जाना अच्छा नहीं लगा तब सम्राट अकबर स्वयं उनका संगीत सुनने के लिए वृन्दावन गये। तानसेन इन्हीं के शिष्य थे, जिन्होंने ध्रुपद गायकी में अपना नाम अमर कर दिया। उनके बनाये हुए ध्रुपद आज भी बड़े सम्मान के साथ गाये जाते हैं।

तानसेन के समय तक तो ध्रुपद गायकी की विशुद्धता कायम रही; परन्तु जैसे-जैसे उर्दू और फ़ारसी शायरी का प्रचार बढ़ा और बड़े-बड़े मौलवियों और फ़ारसी के गायकों ने मुगल दरबार में अपना सिक्का जमाया,

वैसे-वैसे हमारी कविता और गायकी भी उनकी नाज़ुक ख़याली और प्रच्छन्न कल्पना के रंग में रंग गई। स्वयं ध्रुपद गायकी को भी अपनी गंभीरता और भावप्रवणता के ऊँचे आसन से नीचे उतरना पड़ा और फ़ारसी मौसीक़ी (संगीत) की चंचलता को अपनाना पड़ा।

सम्राट अकबर की तरह जहाँगीर और शाहजहाँ भी संगीत प्रेमी थे। उनके राज्य मे भी अनेक संगीतज्ञों ने आश्रय प्राप्त किया। शाहजहाँ तो स्वयं एक अच्छा गायक था। उसने अनेक हिन्दी गीतों की रचना की। पंडित जगन्नाथ और जनार्दन भट्ट नामक प्रसिद्ध गायक उसी के राज्य में थे। कलाओं के प्रोत्साहन के लिए इन दोनों सम्राटों के शासनकाल में उपयुक्त वातावरण था और वे स्वयं भी कला के अच्छे पारखी थे। परन्त शाहजहाँ के बाद संगीत के विकास के लिए कोई वातावरण नहीं रहा। औरंगजेब संगीत कला का कट्टर विरोधी था और उसने अपने राज्य से संगीतज्ञों को हमेशा के लिए निकाल दिया। उसकी इस कट्टर नीति से संगीत की जो प्रगति पिछले सम्राटों के समय हुई वह अवरुद्ध हो गई। परन्तु कभी-कभी अंधकार में भी प्रकाश की रेखा छिपी रहती है। जो संगीत औरंगजेब के दरबार से निर्वासित हुआ उसे अनेक हिन्दू राजाओं के दरबार में आश्रय प्राप्त हुआ। इसके फलस्वरूप जयपुर, उदयपुर, ग्वालियर, अलवर आदि संगीत के केन्द्र बन गये और यह कला मरने से बच गई।

ख्याल गायकी:-

श्री तानसेन की पुत्री के वंश में सदारंग नामक एक बहुत बड़े गायक हुए; इन्होंने मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के जमाने में बड़ी ख्याति पाई। इन्हीं के साथी अदारंग भी थे, जो सदारंग की तरह ही उच्च कोटि के गायक थे। इन दोनों ने प्रचलित ध्रुपद गायकी को, जो पहले ही फ़ारसी रंग में रंगकर एक रसीली शैली बन चुकी थी, एक नवीन रूप प्रदान किया। अब तक ध्रुपद में कल्पना और स्वतंत्र तान पलटों के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी; परन्तु सदारंग और अदारंग ने ध्रुपद गायकी की गंभीरता को अक्षुण्ण रखते हुए, उसमें कल्पना का पुट दिया तथा छोटी-छोटी काल्पनिक तानों और

मुर्कियों से उसे अलंकृत करके एक नवीन गायकी को जन्म दिया, जो बाद में ख़्याल गायकी के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह ख़्याल शैली प्रचलित ध्रुपद शैली का ही विकसित रूप है। मुहम्मदशाह रंगीले के जमाने में अनेक सुन्दर ख़्यालों की रचना हुई, जो आज भी अपनी मधुर बंदिशों तथा कमनीय कल्पनाओं के कारण बहुत पसन्द किये जाते हैं। इस ख़्याल गायकी से दो प्रकार के ख़्यालों की उत्पत्ति हुई; एक विलंबित का ख़्याल जिसे बड़ा ख़्याल भी कहते हैं और दूसरा द्रुत अथवा छोटा ख़्याल। यह विलम्बित का ख़्याल ध्रुपद जैसा ही गंभीर और शक्तिशाली होता है, तथा छोटे अथवा द्रुत के ख़्यालों में चंचलता और तेज़ी विशेष होती है। इन छोटे ख़्यालों की उत्पत्ति १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुई। ये अपनी चंचल प्रकृति और सुमधुर मुर्कियों और तानों के कारण बड़े ख़्यालों से भी अधिक लोकप्रिय बने।

जिस समय छोटे ख़्यालों में विविध प्रकार के प्रयोग किये जा रहे थे उस समय लखनऊ और बनारस में फ़ारसी गज़लों का प्रचार हुआ। इन गज़लों में उर्दू शायरी का चमत्कार तो था ही, साथ में द्रुत ख़्यालों की मधुरता और कमनीयता भी थी। इन द्रुत ख़्यालों तथा ग़ज़लों के बढ़ते हुए प्रचार के बावजूद भी बड़े ख़्यालों की लोकप्रियता कम नहीं हुई। अनेक राज-दरबारों में कई ख़्याल गायकों के घराने आश्रय प्राप्त करते रहे। ग्वालियर के राजदरबार में हद्दूखाँ और हस्सूखाँ नामक गायकों ने सदारंग की तरह ही, बड़े ख़्यालों की परंपरा को पुनः कायम किया। ये बड़े ख़्याल ध्रुपद की तरह ही गंभीर और प्रभावशाली थे। हद्दूखाँ हस्सूखाँ का घराना भारतवर्ष का बड़ा नामी घराना है और उनके वंशज आज भी ख़्याल गायकी की श्रेष्ठ परंपरा को क़ायम रखे हुए हैं। उन्हीं से सीखे हुए अनेक हिन्दू गायक आज भी ग्वालियर में विद्यमान हैं और संगीत का यथेष्ट-रूप से प्रचार कर रहे हैं।

इधर हद्दू हस्सू तथा अदारँग सदारँग के प्रभाव से ग्वालियर ख़्याल गायकी का केन्द्र बना तो उधर अलवर और उदयपुर श्री अलाबंदा तथा जाकूद्दीनखाँ के प्रभाव से ध्रुपद गायकी का। ध्रुपद धमार गायकी की यह परंपरा यद्यपि प्राचीन वैदिक ध्रुपद परंपरा से बहुत भिन्न थी, परन्तु आत्मा उसकी वही पुरानी थी। श्री अलाबंदा और जाकूद्दीनखाँ के घराने ने स्वर

आलाप की एक विशेष पद्धति को जन्म दिया। ये गायक गाना शुरू करने से पहले किसी राग का रूप बाँधने के लिए एक विशेष प्रकार का आलाप लेते थे, जिसमें स्वरों का सौन्दर्य और श्रुतियों की कोमलता निखर पड़ती थी। यह आलाप नोम्-तोम् आदि अर्थहीन शब्दावली के जोड़-तोड़ से पेश की जाती थी, जिससे स्वरों का माधुर्य बढ़ जाता था। इस शैली का नाम भी नोम-तोम की शैली पड़ा और इसी के नाम पर यह घराना भी नोम-तोम का घराना कहलाया। इन संगीतज्ञों की स्वर-साधना भी अद्वितीय थी और इन्होंने एक प्रकार से डूबती हुई ध्रुपद गायकी को मनोरंजक और प्रभावशाली बनाकर आज तक जीवित रखा। श्री जाकूद्दीन और श्री अलाबंदा-खाँ थोड़े ही समय में समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध हुए। ये दोनों ही भाई पहले अलवर में निवास करते थे, परन्तु बाद में उदयपुर राज्य की शोभा बढ़ाने लगे और मृत्यु पर्यन्त वे इसी राज्य की सेवा करते रहे। इनके घरानो में नासीरुद्दीन खाँ, रहीमुद्दीन, इमामुद्दीन और तानसेन डागर आज के प्रसिद्ध गायकों में शुमार होते हैं। परन्तु दुर्भाग्य से उनकी यह गायकी भी लुप्त होती जा रही है और धीरे-धीरे इनके साथ इनकी विशिष्ट शैली भी।

रामपुर के नवाब महम्मदशाह भी अपने जमाने के प्रसिद्ध गायक थे। उन्होंने अपने दरबार में अच्छे-अच्छे गायकों को आश्रय प्रदान किया। इन्हीं गायकों के घराने में भारत प्रसिद्ध गायक स्वर्गीय फयाज़ खाँ भी थे, जो ख़्याल गायकी में अपनी शैली के एक ही थे। उन्हें बाद में बड़ौदा नरेश ने अपने दरबार में रखा और उनका समुचित आदर सत्कार किया। संगीत के इतिहास में इनका नाम अमर रहेगा। इनके अनेक शिष्य भारतवर्ष के विविध भागों में संगीत का प्रचार कर रहे हैं, उनमें मौरिस कालेज लखनऊ के प्रिन्सिपल श्री रातरंजनकर प्रमुख हैं। इसी तरह रियासत कोल्हापुर के राजगायक उस्ताद अलादिया खाँ भी ख़्याल गायकी के सम्राट समझे जाते थे। उनकी शिष्य परंपरा समस्त महाराष्ट्र में फैली हुई है। उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध स्वर्गीय भास्कर बुआ थे। श्रीमती केसरबाई, जिन्हें आज स्त्री गायिकाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, अलादियाखाँ साहब की ही शिष्या हैं। महाराष्ट्र की समस्त गायकी पर खाँ साहब की छाप स्पष्ट है।

ठुमरी गायकी:—

जिस समय महाराष्ट्र, राजस्थान तथा पंजाब में ख्याल गायकी का खूब प्रचार हो रहा था, उसी समय लखनऊ के नवाबों के दरबार में ठुमरी गायकी का प्रादुर्भाव हुआ। अवध के नवाब जिस तरह अपने ऐश-आराम तथा वैभव-विलास के लिए प्रसिद्ध थे वैसे ही वे कला मर्मज्ञ भी थे। राज-कार्य में उन्हें विशेष रुचि नहीं थी। अपना अधिकांश समय वे राग-रंग में ही व्यतीत करते थे। उनके समय में कला को प्रोत्साहन अवश्य मिला परन्तु उसका नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष बिलकुल ही नष्ट हो गया। वह केवल विलासिता के उद्दीपन की ही सामग्री मात्र रह गई। उनके दरबार में अनेक गायक, नर्तक तथा साजिन्दे विद्यमान थे। उनमें नवाब वाजिदअली शाह जैसे उच्च कोटि के कलाकार भी थे। नृत्य और संगीत के कई अंगों को उन्होंने परिपुष्ट किया। उन्होंने ठुमरी जैसी अत्यधिक शृंगारिक और नाजुक शैली को जन्म दिया। ठुमरियों में हाव-भाव तथा स्वरों की बारीकियों पर बड़ा जोर दिया जाता है। इनमें गेय-गुण के साथ काव्य-गुण भी विशेष रहता है; विशेष नाजुक ख्याली के शृंगारिक गीतों को ठुमरियों में बाँधा जाता है और उन्हें कुशल कलाकार अत्यन्त मधुर ढंग से गाता है। ठुमरियों की कोमलता को अक्षुण्ण रखने के लिए गहरी आलापें तथा लंबी तानों से उन्हें दूर रखा जाता है। ये ठुमरियाँ बहुधा स्त्री गायिकाओं के लिये ही उपयुक्त समझी जाती थीं, जिन्हें वे नाना प्रकार की अंगभंगियों और नयन-कटाक्षों के साथ व्यक्त करती थीं। बनारस और लखनऊ धीरे-धीरे ठुमरी गायकी के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये। ठुमरी का प्रत्येक शब्द भाव प्रधान होता है और उसे अभिव्यक्त करने के लिए कोमल आंगिक मुद्राओं की आवश्यकता होती है।

टप्पा गायकी:—

जिस समय लखनऊ और बनारस में ठुमरियों का जोर था, उसी समय पंजाब में मियाँ शोरी ने ठुमरी ही की शैली पर टप्पा नामक गायकी को जन्म दिया। यह शैली अत्यंत चंचल और छिछली है। इसमें प्रत्येक शब्द पर छोटी-छोटी तानें और मुरकियाँ लेने का नियम है। यह गायकी ख्याल और

ठुमरी की तरह विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकी। वह पंजाब के कुछ गायकों तक ही सीमित रही। उसकी प्रकृति क़व्वाली और ग़ज़लों की सी चंचल थी और बहुधा क़व्वालों की महफ़िलों में गाई जाती थी।

इस तरह भारतीय संगीत की प्राचीन गंभीर प्रकृति धीरे-धीरे चंचल और कल्पना प्रधान बनती गई और इससे नई-नई लोकप्रिय और भावप्रधान शैलियों का जन्म होता गया। उनमें से सबसे नवीन और लोकप्रिय शैलियाँ ग़ज़ल, दादरे, क़व्वाली और मर्सिये की है। भारतीय संगीत अब अपने आध्यात्मिक स्तर से उतर कर केवल शृंगारिक भावनाओं को व्यक्त करने का ही साधन रह गया है। उसका स्थान अब मंदिरों, साधारण गृहस्थों तथा धार्मिक समारोहों से हटकर मनचले नौजवानों की महफ़िलों, शराब घरों तथा वेश्यालयों तक ही सीमित्त हो गया है। यह स्थिति हमारे लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण थी और शिष्ट समाज संगीत के इस कुत्सित रूप को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि यह कला कुछ पेशेवर कलाकारों की धरोहर बन गई और उसने समाज में अपने सम्मान का पद खो दिया। भले घर के बालक बालिकाओं के लिए यह कला वर्ज्य समझी जाने लगी। इस तरह इस कला का लौकिक पक्ष प्रायः नष्ट हो गया।

संगीत का पुनरुत्थान:—

परन्तु २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे स्वर्गीय विष्णुनारायण भातखंडे और विष्णु दिगंबर के सतत प्रयत्नों से यह कला पुनः समाज में सम्मानित और प्रतिष्ठित हुई। सैकड़ों वर्ष पुराने गीतों की बंदिशें, जो कुछ ही पेशेवर कलाकारों की संपत्ति बनी हुई थी, इन्हीं महानुभावों के सतत प्रयत्नों से पुनः प्रचार में आ सकीं। श्रीयुत विष्णु दिगंबर इस युग के उत्कृष्ट गायक थे और श्री विष्णुनारायण भातखंडे संगीत के प्रकांड विद्वान्। इन दोनों ने अपने-अपने क्षेत्र में इन कलाओं की पूरी सेवा की और जगह-जगह संगीत के स्कूल और कॉलेज स्थापित किये। इन्होंने शास्त्रीय संगीत की विविध शैलियों को सरल बनाकर सबके लिए ग्राह्य बनाया। अनेक ऐसी परीक्षाएँ जारी कीं, जिनमें प्रतिवर्ष सैकड़ों विद्यार्थी बैठकर अपनी कला-पिपासा को संतुष्ट करते हैं। श्री

विष्णु दिगंबर और भातखंडे ने संगीत को सबके लिए सुलभ और सरल बनाने के लिए संगीत की स्वरलिपियाँ प्रचलित कीं, जिनमें आज अनेक प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं और जिनसे हजारों छात्र लाभ उठाते है। उत्तर भारत में आज शास्त्रीय संगीत के प्रति जनता मे जो भी रुचि जागृत हुई है, उसका समस्त श्रेय इन्हीं दो महानुभावों को है।

इधर बंगाल मे ठाकुर रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा से रवीन्द्र संगीत की सृष्टि हुई है। इस संगीत-शैली में भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधार भूमि रहते हुए भी, उसमें पाश्चात्य संगीत की छाप स्पष्ट है। इस शैली को आध्यात्मिक, भावप्रधान और ताल स्वर की प्राचीन परंपराओं से मुक्त करके उसके प्रवर्तकों ने इसे बंगाल की सर्वाधिक लोक प्रिय शैली बना दिया है। उसमे शब्द और स्वरों का सुन्दर समन्वय हुआ है। स्वरों के मिठास के साथ कविता का सौन्दर्य भी इन गीतों में निखर पड़ा है।

हमारे शास्त्रीय संगीतकार इस प्रकार के मिश्रण और विरोधी रागों की स्वरों की मिलावट को अनुचित समझते थे। यह अंधानुसरण हमारे शास्त्रीय संगीत की प्रगति के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ है। जो कला युग की आवश्यकताओं के अनुसार अपना स्वरूप न बदल कर पुरानी लकीरों की ही दास बनी रहती है, वह प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं होती। हमारी इसी कट्टर नीति ने आज इन सस्ते और भद्दे फिल्मी गीतों को जन्म दिया है। यदि हम अपने शास्त्रीय संगीत को अतिशय कड़े नियमों के बंधनों से मुक्त कर पाते तो उसे फिल्मी संगीत के आसन पर आसीन होने का सौभाग्य प्राप्त होता।

भारतीय लोक गीतः—

जहाँ शास्त्रीय संगीत का हमारे समाज के उच्च वर्ग में प्रचार हुआ, वहाँ भारत के नगरों और गाँवों के असंख्य नर नारियों के मुख पर ऐसे सरल, सुमधुर और भाव प्रधान गीत भी है, जो हमारे जीवन की मूल्यवान धरोहर हैं। इन गीतों को कहीं से सीखना नहीं पड़ता। वे युगों से मानव के कंठों पर सरस्वती के रूप में विराजमान हैं। ये गीत त्यौहारों, सार्वजनिक समारोहों, विवाहोत्सवों तथा धार्मिक पर्वों पर सामूहिक और वैयक्तिक रूप से गाये जाते हैं।

क्योंकि हमारा देश धर्मप्रधान देश रहा है और गीत, भजन आदि पूजा और आराधना के सबल साधन रहे हैं, इसलिये हमारे देश के सबसे अधिक लोकप्रिय गीतों को साधु, संतों तथा फकीर दरवेशों ने सुरक्षित रखा है। मीरा, कबीर, रैदास, दादू, चंडीदास, सूर, तुलसी आदि के गीत आज भी घर-घर में प्रचलित हैं और बड़ी श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। इन्हीं साधु, संतों ने अपने गीतों की मधुर स्वर लहरियों से अनेक संकटों और चिन्ताओं में ग्रस्त समाज के प्राणों में जीवन का संचार किया है। आज भी हमारा दीन दुर्बल और शोषित ग्रामवासी इन्हीं गीतों की दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर अपनी चिन्ताओं को हँसकर झेल लेता है। इन्हीं गीतों ने अनेक भूले-भटकों को मार्ग दिखलाया है और निराश जनों के जीवन में आशा का संचार किया है। अकेले तुलसी ही ऐसे संत हुए जिन्होंने त्रस्त मानव को मर्यादापुरुषोत्तम राम के गीत सुनाकर जीवन का सच्चा रास्ता दिखलाया। कबीर, दादू, रैदास, नानक आदि संतों ने अनेक अंधविश्वासों और पाखंडों में पड़े हुए मानव समाज को धर्म का सच्चा स्वरूप दर्शाया। इन गीतों की परंपरा बहुत पुरानी है और अनेक वर्षों तक मानव का मार्गदर्शन करती आई है। सूरदास और तुलसीदास के गीतों का लोकप्रिय और शास्त्रीय पक्ष समान रूप से विकसित था। उनके समय में शास्त्रीय संगीत उत्कर्ष पर था अतः भारतीय संस्कृति के इन दोनों अमर गायकों ने अपने स्वरचित गीतों को केवल प्रचलित रागों में ही नहीं, शास्त्रीय रागों में भी गाया। शास्त्रीय संगीत और लोकप्रिय संगीत का ऐसा सुन्दर समन्वय कभी नहीं देखा गया। कविवर सूरदास का सूरसागर तथा गोस्वामी तुलसीदास की गीतावली रामायण तथा विनयपत्रिका उस समय के लगभग सभी प्रचलित शास्त्रीय रागों के भंडार हैं।

उक्त साहित्यिक गीतों के अलावा अनेक ऐसे सरल और प्रचलित गीत भी मिलते हैं, जिनपर साहित्यिकता की कोई छाप नहीं रहते हुए भी वे असंख्य कंठों के हार बने हुए हैं। ये गीत बहुधा चक्कियों पर, खेत-खलिहानों पर तथा नई इमारतों की छत कूटते समय महिलाओं द्वारा प्रत्येक गाँव और नगर में गाये जाते हैं। घर पर आये हुए मेहमानों के स्वागत में तथा विवाहोत्सव पर समधियों से हास्य-विनोद करने के लिए जो गीत गाये जाते हैं वे कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन गीतों में संगीत शास्त्र की पेचीदगियाँ नहीं हैं, इसलिए

वे सर्वसाधारण के लिए बोध गम्य हैं। इन गीतों में बहुत से मौसमी अथवा ऋतु संबन्धी गीत भी हैं, जो विविध ऋतुओं में गाये जाते हैं। ऐसे गीत बहुधा प्रादेशिक गीत है, जो बहुधा प्रादेशिक या प्रान्तीय भाषाओं में रचे हुए हैं। कुछ प्रान्तीय गीत ऐसे भी हैं, जिनकी परंपरा सैकड़ों वर्ष पुरानी है और जो अपने-अपने प्रान्त की संस्कृति के प्रतीक हैं। इनमें राजस्थान की माँडे, लावणियाँ तथा रसिये विशेष उल्लेखनीय हैं। लोक गीतों की ये तीनों पद्धतियाँ राजस्थानी लोक जीवन में नाना प्रकार से प्रयुक्त होती हैं और राजस्थानी साहित्य के भाव-लालित्य की विशेष परिचायक हैं। काशी के चेती और विरहे के गीतों से कौन परिचित नहीं होगा? वसन्त ऋतु के मादक वातावरण में जब इन गीतों की स्वर लहरियाँ गूँजती है, तो जनता स्वतः ही इन गीतों पर थिरकने लगती है। मिरजापुर की कजरियाँ तो भारत प्रसिद्ध हैं ही। वर्षा ऋतु में उत्तर प्रदेश की नारियाँ आम की डालियों पर झूले डालकर ये गीत गाती हैं। गुजराती गरबों के साथ गाये जाने वाले गीत भी गुजराती जीवन के प्रमुख अंग हैं। ये गीत धुनों की विभिन्नता की दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न हैं।

इन लोक गीतों में हम अपने राष्ट्र की सच्ची संस्कृति का चित्र देख सकते हैं। प्रत्येक प्रान्त के लोक गीतों के अनेक संग्रह इन कुछ वर्षों में प्रकाशित हुए हैं और उन पर खोज सम्बन्धी भी काफ़ी कार्य हो रहा है। ये गीत निश्चय ही हमारे लोक साहित्य के अमर रत्न हैं, परन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि जहाँ इन गीतों के शब्दों का संकलन हुआ है, वहाँ इनके स्वरों का संकलन कहीं नहीं हुआ है। इन गीतों में जैसा शब्द लालित्य है वैसा ही स्वरों में सौन्दर्य भी है। यदि हमें अपनी लोक संस्कृति को बचाना है तो यह काम अति शीघ्र शुरू करना चाहिए।

भारतीय संगीत की कुछ विशेष बातें:—

ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से सारे विश्व का संगीत एक ही नियम से शासित है। संगीत के सात स्वर और उनके तीन सप्तकों के आधार पर ही संसार की विविध संगीत-पद्धतियों के शास्त्र निर्मित हैं। परन्तु भारतीय संगीत का राग-

विज्ञान, रागों का समय-निर्धारण, राग-उत्पत्ति तथा ताल-विज्ञान ही कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उसे विश्व की समस्त पद्धतियों से अलग करती है।

स्वर सात प्रकार के माने गये हैं, षड्ज, ऋषभ, मंधार, मध्यम, पंचम, धवेत और निषाद। जिन में षड्ज और पंचम शुद्ध स्वर हैं और बाकी विकृत। इस प्रकार शुद्ध और विकृत स्वर मिलाकर कुल १२ स्वर होते हैं। इन्हीं बारह स्वरों के विविध प्रकार के मेल से विविध प्रकार के रागों की उत्पत्ति होती है। प्राचीन विद्वानों ने इन स्वरों के निरंतर प्रयोग से ऐसे कुछ स्वर-समूह निर्धारित किये हैं, जिन से दस मुख्य राग अथवा थाठों की सृष्टि हुई है। उन्होंने निरंतर अनुभव से यह भी मालूम किया है कि इन दस थाठों के स्वरों से इनके अलावा कोई दूसरा थाठ-समूह नहीं बन सकता है। ये थाट १० प्रकार के है :—

(१) बिलावल (२) यमन (३) खमाज (४) काफी (५) भैरव (६) भैरवी (७) मारवा (८) आसावरी (९) तोड़ी (१०) पूर्वी।

इन थाठों में प्रयुक्त हुए स्वरों के प्रकार पहले से निश्चित रहते हैं। इन थाठों में जो स्वर निश्चित रहते हैं, उनकी अन्य प्रकार की स्वर-रचना से जो राग बनते हैं, उन्हें इस थाट में समाविष्ट किया गया है। इस तरह इन थाठों में संगीत के पंडितों ने कुछ स्वर घटा बढ़ाकर अनेक रागों की सृष्टि की है। कोई भी कुशल गायक किसी भी राग को सुनकर यह बतला सकता है कि वह किस थाठ का राग है।

इन रागों के गाने के समय भी पूर्व निर्धारित है और उनका निर्धारण अत्यन्त वैज्ञानिक आधार पर हुआ है। उसका एक मोटा नियम यहाँ घर दिया जाता है। जो राग रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक गाये जाते हैं, उन्हें पूर्वांग के राग कहते हैं, तथा जो दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक गाये जाते हैं, वे उत्तराङ्ग के राग कहलाते हैं। दिवस के पूर्वार्द्ध में मनुष्य की प्रकृति अत्यन्त गंभीर और शांत रहती है; इसलिए उस समय गाये जाने वाले रागों के स्वरों की चलत फिरत भी सप्तक के पूर्वार्द्ध ही में होती है। इसी तरह दिवस के उत्तरार्द्ध में मनुष्य की प्रकृति अधिक चंचल और तेज

होने लगती है, इसीलिए विद्वानों ने उत्तरार्द्ध के रागों की प्रकृति को भी विशेष चंचल रखा है। उनके स्वरों की चलत फिरत भी सप्तक के उत्तरार्द्ध अथवा पंचम से निषाद तक अधिक रखी है।

समय-निर्धारण के इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राग का समय-निर्धारण भी अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। विद्वानों ने स्वरों का जोड़ तोड़ ही ऐसा बिठलाया है कि उन से उत्पन्न प्रभाव भी समय की प्रकृति के अनुसार ही होता है। जिस तरह सुबह, दोपहर, सायंकाल, रात्रि, मध्य रात्रि, उत्तर रात्रि आदि के समय मनुष्य के मन पर विविध प्रकार के असर होते हैं उसी के अनुरूप ही रागों के स्वरों की रचना इस प्रकार से हुई है कि उनसे उत्पन्न प्रभाव भी उसी तरह का होता है। जैसे मध्य रात्रि के अत्यधिक गंभीर प्रभाव के अनुरूप ही मालकौस और दरबारी जैसे रागों की सृष्टि हुई है। यह समय निर्धारण का सिद्धान्त इतना मनोवैज्ञानिक है कि संगीत से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति भी रात को भैरव राग सुनकर यही कहेगा कि वह राग उस समय उसके कानों को अच्छा नहीं लग रहा है।

भारतीय संगीत में समय के अनुसार तो राग हैं ही परन्तु मौसम के राग भी हैं। इन मौसमी रागों की स्वर-रचना बड़ी खोज के बाद की गई है। इन विशिष्ट रचनाओं में केवल स्वरों का ही ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उस राग को सम्बन्धित मौसम में ही गाने और सुनने में आनन्द आता है। जैसे वर्षा ऋतु के लिए मल्हार, हिंडौल तथा बसंत के लिए रागबहार, बसंत, होरी आदि रागों की सृष्टि की गई है।

भारतीय संगीत की ताल:-

भारतीय संगीत में स्वरों के इतने विशद् शास्त्र के साथ ही ताल और लय का भी विशद् विज्ञान है। इसने भारतीय शास्त्रीय संगीत को चमत्कारिक बनाने के साथ ही कठिन भी बना दिया है। ऐसी अनेक तालों की हमारे संगीत में सृष्टि हुई है, जिनकी कल्पना भी विश्व की अन्य संगीत-प्रणालियों में नहीं हुई। पाश्चात्य संगीत में तो अत्यन्त सरल और प्राथमिक लय की तालें हैं। उनकी तालें अधिकतर चार, छः या आठ गिनतियों की

होती है। भारतीय संगीत में ६, ७, ६, १०, १२, तथा १४ गिनतियों अथवा मात्राओं तक की तालें हैं। इन तालों के अनेक पेचीदा और वक्ररूप भी हैं। तबला वादक किसी भी गायक का साथ देते समय उसको चक्कर में डाल सकता है। उसी तरह संगीतज्ञ भी अपनी पेचीदा गले बाज़ी तथा आड़ी, टेढ़ी तान आलापों से तबला वादक को चक्कर में डालने की कोशिश करता है। ये दोनों ही चेष्टाएँ कभी-कभी संगीत की कुश्ती के रूप में परिणत हो जाती हैं और संगीत के स्वाभाविक माधुर्य को नष्ट कर देती हैं। शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता कम होने का मुख्य कारण ताल और लय की चक्कर बाजी भी है।

भारतीय नृत्य कला

नृत्य का उद्गम:--

मनुष्य जब अत्यधिक आनन्द और उल्लास की स्थिति मे होता है तब उसके अंग प्रत्यंग स्वतः ही उछलने कूदने लगते है। संसार के सभी नृत्यों का उद्गम प्रायः इसी विशेष स्थिति में हुआ है। यही उछल कूद जब कुछ व्यवस्थित और नियोजित ढंग से होने लगती है तब उसे नृत्य का रूप प्राप्त होता है। नृत्य की सबसे प्रारंभिक अवस्था यही रही होगी। उसके बाद मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य और विकसित होता गया, वैसे-वैसे उसकी कला में भी परिमार्जन होने लगा। किसी भी सार्वजनिक समारोह तथा धार्मिक पर्व के समय उसकी ये ही नियोजित अंग भंगियाँ लय बद्ध नृत्य के रूप में परिवर्तित हुईं। ये समारोह प्रारंभ में प्राकृतिक प्रकोपों से बचने तथा आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए हुआ करते थे। सामूहिक नृत्य, नाट्य तथा गान इन समारोहों के प्रमुख अंग थे। आदिवासियों के जीवन में यज्ञ, पूजन, अर्चन आदि का बड़ा महत्व था और जब उनके जीवन से भय की भावना उल्लास और आनन्द में परिणत हुई तब सामूहिक नृत्य और गान आनंदानुभूति के मनोहर साधन बन गये।

आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में भी वरुण, इन्द्र, मारुत आदि प्राकृतिक देवताओं की पूजा नृत्य गान से प्रारंभ होती थी। वैदिक मंत्रों का उच्चारण भी हस्तमुद्राओं तथा अंग-संचालन के साथ होता था। वही बाद में व्यवस्थित नृत्य-मुद्राओं के रूप में विकसित हुईं। आज भी ये प्रारंभिक वैदिक मुद्राएँ किसी धार्मिक समारोह के समय पुरोहितों द्वारा वेदोच्चार के साथ देखी जा सकती हैं। धीरे-धीरे साहित्य, धर्म और कला के सामंजस्य के साथ-साथ ये ही आंगिक-मुद्राएँ नृत्य शास्त्र की मुद्राओं में विकसित हुईं और नृत्य शास्त्रियों ने उन्हें अनेक नियम-उपनियमों में बाँध दिया।

भरत मुनि का नाट्य शास्त्र:—

ईसा से ५०० वर्ष पूर्व नृत्य, संगीत और नाट्य का एक वृहद् ग्रंथ 'भरत नाट्य शास्त्र' हमारे देश में लिखा गया। इसे पंचम वेद भी कहते हैं। नाट्य शास्त्र के प्रारंभ में यह लिखा हुआ है कि देवताओं ने ब्रह्मा से यह प्रार्थना की कि मनोरंजन का एक ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए, जिससे समस्त संसार चकित हो जाय। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से नाट्य शास्त्र नामक पंचम वेद की रचना की। इस कथा का यही तात्पर्य है कि इस नाट्य शास्त्र के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य तथा अथर्ववेद से रस लिए गये। इस ग्रंथ में तत्कालीन नृत्य नाट्य का विशद् विवेचन है। यह ग्रंथ नृत्य नाट्य का लक्षण ग्रंथ है, अथवा वह ग्रंथ जिसमें नाटकीय तत्वों तथा उसके संवन्ध में नियम उपनियमों का उल्लेख होता है। किसी भी कला का लक्षण ग्रंथ अथवा शास्त्र तभी लिखा जाता है जब कि वह कला अनेक वर्षों तक अपनी प्रारंभिक स्थितियों को पार करके विकास की सीमा तक पहुँच चुकी हो। इस बात को हम मान लें तो भरत नाट्यशास्त्र के हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व भी नृत्य नाट्य की अनेक उन्नतपरंपराएँ हमारे देश में विद्यमान रही होंगी। अतः यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि भरत मुनि द्वारा प्रणीत नाट्य शास्त्र में जिस विशिष्ठ नृत्य शैली का विवेचन है वह उससे हज़ार दो हज़ार वर्ष पुरानी है। कई वर्षों तक ऐसा ग्रंथ हमारे देश में नहीं लिखा गया। इस ग्रंथ की तिथियाँ अभी निश्चित नहीं हो पाई हैं, परन्तु अनुमान से वह ईसा से ५०० वर्ष पुराना ग्रंथ है। इस ग्रंथ में नृत्य, नाट्य तथा गीत का सम्मिलित विवेचन किया गया है, क्योंकि उस समय कला के ये तीनों रूप एक साथ ही विकसित हुए और सैकड़ों वर्षों तक एक दूसरे से अभिन्न रहे।

भारतीय नृत्य के तीन अंग तथा उनकी तीन अवस्थाएँ:—

भरत नाट्य शास्त्र के अनुसार नृत्य के तीन अंग माने गये हैं (१) नाट्य (२) नृत्य (३) नृत्त। ये तीनों ही अंग दक्षिण भारत के नृत्यों में आज भी

विद्यमान हैं। नृत्यकार अपने प्रदर्शनों में इन तीनों प्रकारों को अभिव्यक्त करता है। सर्व प्रथम वह विविध प्रकार के पद संचालन से अपनी ताल और लय-ज्ञान को प्रकट करता है। पद संचालन की यह कला एक प्रकार से मृदंग या तबले की ही कला है, क्योंकि जो गतें वादक अपने तबले या पखावज पर बजाता है, उन्हीं को नृत्यकार अपने पावों द्वारा जमीन पर व्यक्त करता है। नृत्य के इस अंग को नृत्त अंग कहते हैं। इसके उपरान्त वह अपने नयन तथा मुख से विविध आँगिक मुद्राओं के साथ विविध भावों की व्यंजना करता है। नृत्य का यह अंग बहुत ही कठिन है और नृत्यकार की सतत साधना से ही सफलता पूर्वक व्यक्त किया जा सकता है। इस अंग को नृत्य अंग कहते हैं। तीसरा अंग नाट्य हैं। इसे अभिनय भी कहते हैं। इसमें नृत्यकार को किसी व्यक्ति विशेष का नृत्य मुद्राओं में अनुकरण करना पड़ता है। इसके साथ संगीत और भावप्रदर्शन का समन्वय आवश्यक होता है। यह अंग नृत्य का नाट्य अंग है और सबसे अधिक रोचक है। इन तीनों अंगों में पारंगत होने पर ही नृत्यकार संपूर्ण कलाकार समझा जाता है।

नृत्य के इन अंगों को व्यक्त करने के लिए नृत्यकार को इन चार प्रकार के साधनों का उपयोग करना पड़ता है :—

(१) आंगिक (२) वाचिक (३) आहार्य तथा (४) सात्विक।

(१) आंगिक :—नृत्यकार को अपने नृत्य में अंगों का संचालन सबसे अधिक करना पड़ता है। नृत्य के सौन्दर्य में इसका सबसे अधिक महत्व है। शरीर के विविध अवयवों से ताल बद्ध क्रियाओं का संचार करना पड़ता है तथा उसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न की आवश्यकता होती है। एक सफल नृत्यकार बनने के लिए नृत्यकार के लिए अपने अंगों के विविध अवयवों को तैयार करना बहुत आवश्यक होता है।

(२) वाचिक :—नृत्य के साथ बहुधा संगीत, संवाद आदि के रूप में वाणी की आवश्यकता होती है। एक नृत्यकार तथा नाट्यकार को संगीत और संवाद में भी प्रवीणता प्राप्त करनी होती है और सफल नृत्यकार भी वही है जो वाणी का धनी है और संगीत का अच्छा ज्ञाता है। उसे अपने नृत्य

नाट्य में प्रसंग के अनुसार ही स्वर, शब्द तथा वाणी से अपने तात्पर्य को व्यक्त करना पड़ता है।

(३) आहार्य:—जिस प्रकार कोई भी नृत्य या नाट्य आंगिक संचालन तथा वाणी के प्रयोग के बिना अपूर्ण ही समझा जाता है, उसी तरह पात्रानुकूल तथा विषयानुकूल वेशभूषा तथा अलंकरणों का प्रयोग भी नृत्य नाट्य में अत्यन्त आवश्यक है। इससे नृत्य-नाट्य की प्रभावोत्पादकता और सुन्दरता बढ़ती है। आधुनिक मेकअप, ड्रेस, वस्त्राभूषण आदि भी आहार्य में ही गिने जाते हैं।

(४) सात्विक:— किसी भी नृत्य नाट्य में केवल अपने आपको वेश-भूषा से सजा लेना, अंगों का संचालन करना तथा केवल शब्दोच्चार ही पर्याप्त नहीं है। नृत्य में प्रयुक्त हुए गीत तथा शब्दों के भावों की अभिव्यक्ति नृत्य-कार के मुख पर अवश्य निखर पड़नी चाहिए। उचित भाव प्रदर्शन से ही दर्शकों पर वांछित प्रभाव डाला जा सकता है। यही भाव प्रदर्शन कलाकार के नृत्य का सात्विक अंग है।

भारतीय नृत्य का विकास:--

जो नृत्य आदि काल में केवल उछल-कूद तथा लय बद्ध क्रियाओं में ही व्यक्त होता था वह आर्यों के समय आंगिक मुद्राओं तथा भावाभिव्यक्ति में विक-सित हुआ। धीरे-धीरे इस स्थिति में भी परिवर्तन हुआ और वेश-विन्यास और भाव-भंगियों की दृष्टि से भारतीय नृत्य नाना प्रकार से सजाया सँवारा गया। उसे अनेक नियमों और उपनियमों से बाँध कर शास्त्रकारों ने उसपर अनेक शास्त्र रचे। यह विकास ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही संपन्न हो गया। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा नृत्य कितना प्राचीन है और उसने विकास की सर्वोच्च सीमा को सैकड़ों वर्ष पूर्व ही पार कर लिया था। इससे यह भी सहज कल्पना की जा सकती है कि हमारे सामूहिक लोक नृत्य को नृत्य शास्त्र के नियमों में बाँधने से पूर्व विकास की कितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ी होंगी और उसकी लोकप्रियता कितनी अधिक रही होगी।

भारतीय नृत्य के चार प्रकारः-

ऊपर लिखा जा चुका है कि भारतवर्ष का सबसे पुराना नाट्य ग्रंथ भरत् नाट्य शास्त्र है। उसके बाद ऐसा कोई महिमाशाली नाट्य-ग्रंथ नहीं लिखा गया। आज भी दक्षिण भारत की नृत्य शैलियों का मूलाधार वही ग्रंथ है, तथा भारतवर्ष के सभी नृत्यों का इस नृत्य-ग्रंथ से काफी संबन्ध है। इस समय हमारे देश में शास्त्रीय नृत्य की चार प्रमुख शैलियाँ विद्यमान हैं, जो एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी उनकी सामान्य पष्ठभूमि एक ही है।

(१) भरत नाट्यम्:--

यद्यपि भरत नाट्य शास्त्र की अधिकांश परंपरा इस नृत्य शैली में विद्यमान है, फिर भी उसे नाट्य शास्त्र में उल्लिखित नृत्य शैली ही मान लेना उचित नहीं होगा। यह नृत्य चौथी शताब्दी में तन्जौर के आसपास विकसित हुआ। यह विशुद्ध धार्मिक नृत्य है, क्योंकि इसका सर्वप्रथम उद्गम मंदिरों में हुआ और उसकी समस्त अंगभंगियाँ और विषय सामग्री धार्मिक है। सर्वप्रथम यह नृत्य तंजौर के मंदिरों में नाचा जाता था और तंजौर के चौल राजाओं ने इसको संरक्षण प्रदान किया। यह नृत्य केवल स्त्रियों के लिए ही उपयुक्त समझा गया और उसे स्त्रियाँ ही नाचा करती थीं; परन्तु आजकल कई पुरुष भी इसको सीखने लगे हैं। इस नृत्य के अधिकाँश गुरु पुरुष होते हैं, जिन्हें तन्जौर में 'भागवतयेलम्' कहते हैं। इनका एक विशेष समुदाय आज भी विद्यमान है। भरत नाट्य की अधिकांश नर्तकियाँ इन्हीं गुरुओं की शिष्याएँ हैं। आज से ५० वर्ष पूर्व यह नृत्य दक्षिण भारत में केवल देवदासियों द्वारा नाचा जाता था। ये देवदासियाँ केवल मंदिरों की ही संपत्ति होती थीं और इनकी कोई स्वतंत्र गृहस्थी नहीं थीं। इनका सारा भरण पोषण मंदिरों में ही होता था। वे मंदिरों में अपने आराध्य देव के सम्मुख नृत्य करके अपने धार्मिक कर्तव्य को अत्यंत भक्तिभाव के साथ पूरा करती थीं। इन देवदासियों ने हमारे प्राचीन भारतीय नृत्य की अनेक सुन्दर परंपराओं को सैंकड़ों वर्षों तक जीवित रखा और धार्मिक स्थानों की पवित्रता की अभिवृद्धि की। परन्तु मध्य युग के अनेक धार्मिक आडंबरों के कारण ये ही पवित्र स्थान विलास और शृंगारिकता

के केन्द्र बन गये और ये देवदासियाँ मंदिरों की धरोहर न रहकर राजा-महाराजाओं और धनिकों के मनोरंजन की सामग्री बन गईं। इस परिवर्तन के साथ ही यह पवित्र और आध्यात्मिक नृत्य शैली भी दूषित समझी जाने लगी और कुछ ही पेशेवर कलाकारों की पैतृक संपत्ति बन गई। यह स्थिति लगभग २०० वर्ष तक रही। अब तक इस नृत्य की पृष्ठ भूमि में धर्म की प्रधानता थी और वह भावना के उच्च स्तर पर आसीन था; परन्तु जब से वह विशिष्ट जनों और नृत्याचार्यों की धरोहर बना, तब से उसका शास्त्रीय रूप और भी अधिक पेचीदा और क्लिष्ट हो गया। दक्षिण भारत के बड़े-बड़े जमींदारों तथा राजाओं ने इस नृत्य को अपने राजदरबारों में स्थान दिया और वह एक प्रकार से जन-आश्रित कला से राज्याश्रित कला बन गया। ट्रावनकोर और मैसूर राज्य इस नृत्य के प्रमुख केन्द्र बन गये और यहाँ इस नृत्य के बड़े-बड़े घराने पोषण प्राप्त करने लगे। इस प्रकार इस नृत्य को राजसी वैभव के बीच पनपने का अवसर अवश्य मिला; परन्तु इसके लोकप्रिय रूप को इससे काफी आघात पहुँचा।

२०वीं शताब्दी के बहुमुखी सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप इस नृत्य शैली की भी पुनः समाज में प्रतिष्ठा हुई और प्रतिष्ठित घरों में इसे पुनः सम्मान का पद प्राप्त हुआ। श्रीमती बालासरस्वती, जिनकी परंपरा एक देवदासी ही की थी, आज इस नृत्य की सबसे बड़ी उन्नायिका हैं। उन्होंने भरत नाट्य को समस्त भारत में प्रचारित और प्रतिष्ठित किया। उन्हीं की प्रेरणा से इस शैली का आज समस्त भारत में इतना सम्मान है। यह नृत्य अंग भंगियों के अत्यधिक तोड़ मरोड़ के बावजूद भी अपनी अनुपम भावाभिव्यंजना के कारण स्त्रियों के लिए उपयुक्त समझा गया। दक्षिण में आज भी अनेक बालिकाएँ और महिलाएँ ऐसी हैं, जो इस नृत्य की विशेषज्ञा हैं। श्रीमती रुक्मणी अरंडेल, श्रीमती मृणालिनी साराभाई, श्रीमती कमला, श्रीमती ललिता, पद्मिनी आदि अनेक प्रतिभाएँ हैं, जिन्होंने इस क्षेत्र में काफी ख्याति प्राप्त की है। अब तो कुछ पुरुषों ने भी इस नृत्य शैली को अपनाया है, जिनमें श्री रामगोपाल प्रमुख हैं। इन सब में श्रीमती अरंडेल और श्री रामगोपाल की सेवाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीमती रुक्मणी अरंडेल थियोसोफी के प्रमुख नेता श्री अरंडेल की धर्मपत्नी हैं। ये इस शैली की

प्रमुख नर्तकी हैं और इन्होंने भारतीय नृत्य को कई बार विदेशों में जाकर प्रचारित किया है। इनका मद्रास स्थित कला क्षेत्र शिक्षा और कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। ये कला की विशुद्धता के पक्ष में हैं और उसमें किसी प्रकार का मिश्रण अनुचित समझती है। उन्होंने अपने कला-क्षेत्र द्वारा शिक्षा और कला के समन्वय का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है।

श्रीयुत रामगोपाल ने इस नृत्य में काफी प्रयोग किये हैं। वे इसकी विशुद्धता के विशेष पक्षपाती नहीं है। इस नृत्य को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने परंपरागत संगीत तथा लाक्षणिक मुद्राओं में काफ़ी परिवर्तन किया है। ये अपने नृत्य कार्यक्रम में शास्त्रीय और लोकप्रिय नृत्यों का अच्छा समन्वय करते हैं। ये प्रथम पुरुष हैं, जिन्होंने इस नृत्य में इतनी कुशलता प्राप्त की है। ये भरत नाट्य के अलावा भारत की अन्य नृत्य शैलियों के भी अच्छे ज्ञाता हैं। ये समस्त विश्व का अपने दलबल सहित कई बार भ्रमण कर चुके हैं। ये इस समय के प्रमुख नृत्यकारों में हैं।

भरत नाट्य की भावाभिव्यंजना अपूर्व है। राधा कृष्ण की अनेक लीलाओं को भरत नाट्य की नर्तिकाएँ अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती हैं। थिल्लाना, जैथी स्वरम्, शब्दम्, वर्णम्, अलारिपु आदि इस नृत्य के प्रमुख प्रकार हैं, जो शास्त्रीय ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। भरत नाट्य में हाथों, नयनों, गर्दन तथा अंग-प्रत्यंग की विशिष्ठ मुद्राएँ हैं, जो नृत्य की मूक भाषा के रूप में नृत्य के अनेक प्रयोजनों को अभिव्यक्त करती हैं। यह नृत्य-शैली लगभग २००० वर्ष पुरानी है और भारतीय नृत्य-शैलियों में सबसे प्राचीन है।

(२) कथकली:—

यह भी दक्षिण भारतीय नृत्य है और इसकी परंपरा भी २००० वर्ष पुरानी है; परन्तु १६वीं शताब्दी में उसने एक विशिष्ठ रूप प्राप्त किया। केरला और प्राचीन मालाबार में सहस्त्रों वर्षों से नाट्य की अनेक सुन्दर परंपराएँ चली आ रही हैं। उन्हें वहाँ के कुछ घराने वालों ने आज तक जीवित रखा। इन कलाकारों को राज्य की तरफ से काफी समय तक जागीरी और पारिश्रमिक मिलते रहे। इनके अनेक परिवार आज भी मालाबार में विद्यमान

हैं। कथकली नृत्य अपनी शक्ति-शालिता, लोकप्रियता तथा नाटकीयता के गुणों के कारण लोक-नृत्यों की श्रेणी में आता है। परन्तु वह भी इतने अधिक शास्त्रीय नियमों में बँध गया है कि अब उसे शास्त्रीय नृत्य ही कहना ठीक रहेगा। इस नृत्य में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं और स्त्रियों के लिए वह सर्वथा वर्ज्य है। इसमें स्त्रियों का भाग भी पुरुष ही अदा करते हैं। इस नृत्य में महाभारत और रामायण की कथाएँ व्यक्त की जाती हैं और यह युरोपीय बेले नृत्य की तरह भारतीय बेले का सबसे अधिक प्रभावशाली प्रकार है। यह नृत्य मालाबार के गाँवों के चौराहों पर रात्रि से प्रारम्भ होकर, प्रातः सूर्योदय के बाद तक चलता है। इस नृत्य के लिए किसी भी मंच की आवश्यकता नहीं होती। नृत्य शुरु होने से पहिले एक बहुत बड़ा घंटा बजाया जाता है, जिससे दूर-दूर के दर्शक-गण देखने के लिए एकत्रित होते हैं। नृत्य के स्थान पर काँसे का बना हुआ एक भीमकाय दीप जलाया जाता है, जिसमें मन भर से भी अधिक तैल जलता है। नृत्य के साथ कान के परदे फाड़ डालने वाले ढोल नक्कारे बजते हैं। उन पर रामायण और महाभारत की अनेक कथाओं को कर्नाटकी संगीत की स्वर-लहरियों पर नृत्य मुद्राओं में व्यक्त किया जाता है। इस नृत्य की अंगभंगियाँ, नयन और मुख की भावाभिव्यंजनाएँ किसी विशेष अर्थ का वहन करती है। नृत्यकारों की वेषभूषा चमकीली और भीमकाय होती है। उनका मुख-विन्यास भी अत्यन्त विचित्र होता है। मुख-विन्यास पात्र की भूमिका के गुण दोषों पर निर्भर रहता है। वेशभूषा और मुखाकृति में पूरा सामंजस्य होता है। जिस गुण विशेष की भूमिका में पात्र को अभिनय करना होता है उसी के अनुरूप ही वेश-विन्यास और मुख-विन्यास का प्रकार होता है। वेशभूषा का सबसे प्रमुख अंग सिर की पोशाक होती है। इस नृत्य को सीखने के लिए एक विद्यार्थी को कभी-कभी २० वर्ष तक लगाने पड़ते हैं। नृत्य सिखलाने से पूर्व नृत्य सीखने वाले के शरीर को एक विशिष्ठ मालिश द्वारा लोचदार और हल्का बनाया जाता है। तदुपरान्त उसे कथकली की विविध व्यायाम शैलियों और अंग-भंगियों से अभ्यस्त होना पड़ता है।

कथकली नृत्यकारों को अपने अंग प्रत्यंग पर इतना काबू रहता है कि वह एक ही समय अपने मुख के एक भाग से हँसने की तथा दूसरे से रोने की क्रिया कर सकता है। कथकली शास्त्र में हस्त, मुख तथा ग्रीवा के अनेक

प्रकार वर्णित हैं, जिनसे कथकली नृत्यकार बिना बोले ही अपना प्रयोजन प्रकट कर सकता है। इस नृत्य के साथ मृदंग, रुद्र—वीणा तथा वंशी का प्रयोग होता है। कथकली के सर्व श्रेष्ठ नृत्यकार स्वर्गीय श्री शंकरम् नंबूदरी थे। वे त्रावणकोर राज्य के राजनर्तक तथा विश्व विख्यात नर्तक श्री उदय-शंकर के गुरु थे। जीवित नृत्यकारों में श्री गोपीनाथ, श्रीमती थंकमणि तथा केलू नायर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीयुत गोपीनाथ शिक्षित और लोकप्रिय नृत्यकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्हें भी किसी समय त्रावणकोर का राजनर्तक बनने का सौभाग्य प्राप्त था। ये भी कई बार अपने दल सहित भारत का दौरा कर चुके हैं और इन्हें इस क्षेत्र मे काफी ख्याति प्राप्त हो चुकी है। इन्होंने भी कथकली को रंगमंचोपयुक्त बनाने के लिए उसमें काफी परिवर्तन किये हैं और वे उसे काफी सरल और मनोरंजक ढंग से जनता के समक्ष उपस्थित करने में सफल हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध संस्था 'नाट्य निकेतन' मद्रास मे इस शैली के शिक्षण में महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

कथकली नृत्य के शिक्षण, पुनरुत्थान तथा प्रचार कार्य में संलग्न सबसे पुरानी और अधिकृत संस्था इस समय "केरला कला मंडलम्" है। इसके संस्थापक सुप्रसिद्ध कवि नृत्यकार श्री वल्लतोल हैं। इन्हीं के प्रयास से इस कला को आज समस्त भारत में इतना सम्मान का पद प्राप्त हुआ है। भारत के अनेक कलाकार इसी संस्था में शिक्षित तथा दीक्षित हैं। इस संस्था में देश विदेश के विद्यार्थी आकर कला की शिक्षा प्राप्त करते हैं। कला और संस्कृति का यह केन्द्र स्वतंत्र भारत का आज भी गौरव बना हुआ है।

(३) कथ्थक:—

यह नृत्य भारत की अन्य नृत्य शैलियों की तरह अधिक पुराना नहीं है। वैसे तो समस्त भारतीय नृत्यों का उद्गम भरत नाट्य शास्त्र को ही मानते हैं और उस दृष्टि से इस शैली को भी अपनी समस्त प्रेरणाएँ इसी ग्रंथ से प्राप्त हुई हैं, परन्तु इसका प्रादुर्भाव मुगल बादशाहों के समय हुआ माना जाता है। उसे एक व्यवस्थित आकार प्रकार अवध के नवाबों के समय मिला।

अन्य भारतीय नृत्यों की तरह इसकी धार्मिक पृष्ठ भूमि प्रबल नहीं है; इसलिए इसकी लोकप्रियता भी इतनी नहीं है। प्रारंभिक मुस्लिम-शासन के समय उनकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण समस्त उत्तर भारतीय कलाएँ नष्ट प्रायः सी हो रही थी। उनमें नृत्य कला को सबसे अधिक आघात पहुँचा, क्योंकि उन्हें उत्तर भारत के अत्यधिक मुस्लिम प्रभाव के कारण कोई धार्मिक पोषण नहीं मिल सका। इसके विपरीत कथकली और भरत नाट्य जैसी कलाएँ दक्षिण भारत में और मणिपुरी नृत्य कला आसाम की गहन पर्वत-माला के बीच इन अनुचित प्रभावों से दूर रहने के कारण ही सुरक्षित रह सकी। फिर भी कथक ही भारतीय नृत्य का वह रूप था जो मुगल सम्राटों तथा अवध के नवाबों के वैभव और विलास के वातावरण में परिपुष्ट हो सका। जिस तरह भक्तिकालीन साहित्य की अनुकृति के रूप में रीति काल की शृंगार प्रधान और राज्याश्रित काव्य शैली का जन्म हुआ, उसी प्रकार प्राचीन धार्मिक नृत्य शैली कथक जैसी अत्यधिक शृंगारिक और रीति बद्ध शैली में परिवर्तित हुई। वैसे कहा तो यह जाता है कि सम्राट अकबर के समय स्वामी हरिदास जी द्वारा इस नृत्य का प्रादुर्भाव हुआ और वे इसे भगवान कृष्ण के सम्मुख भक्ति भाव से नाचा करते थे। परन्तु कथक की प्रकृति और उसकी अन्य विशेषताओं को देखते हुए यह भान नहीं होता कि वह कभी भी विशुद्ध रूप में धार्मिक नृत्य रहा होगा। स्वामी हरिदास जी के लिए यह कहा जाता है कि उन्होंने जिनको संगीत सिखाया वे तो संगीतज्ञ हो गये और जिन्हें नृत्य सिखाया वे कथक बन गये। इस बात को यदि मान भी लिया जाय तो स्वामी जी के बाद और अवध के नवाबी शासन के बीच इस नृत्य की कोई भी विशिष्ट शृंखला दृष्टिगत नहीं होती। अतः कम से कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि नवाबों के समय में इस शैली को व्यवस्थित रूप ग्रहण करने और अपने आप में परिपुष्ट होने का अच्छा अवसर मिला।

नवाब असफउलन्दौला के दरबार में एक पंजाबी मियाँ शोरी थे, जिन्होंने संगीत में टप्पा नामक शैली को जन्म दिया। कहते हैं इस नृत्य शैली के जन्म दाता भी वे ही थे। उस समय उत्तर प्रदेश के सभी नर्तक उनके शिष्य थे। प्रारम्भ में यह नृत्य एक भाव-नृत्य के रूप में ही विद्यमान था। अतिशय

भरत नाट्यम् नृत्य की एक मुद्रा
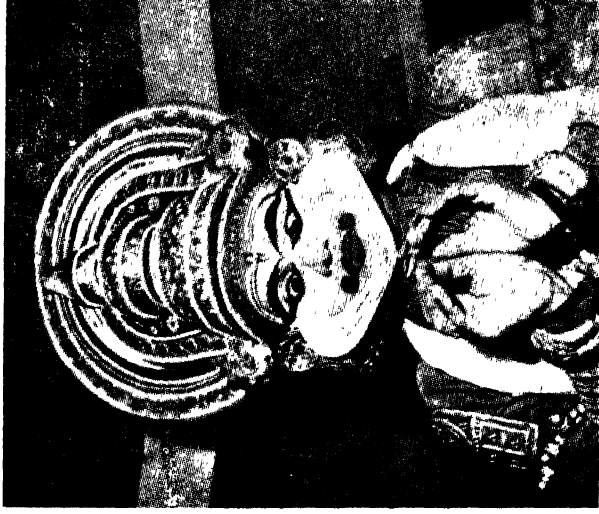
कथकली नृत्य की एक मुद्रा

कथ्थक नृत्य की एक मुद्रा

मणिपुरी नृत्य की एक मुद्रा

भाव-प्रधान ठुमरियों और टप्पों को गाते समय गायक अपना अंग संचालन किया करते थे। यह प्रणाली धीरे-धीरे भाव नृत्य का रूप धारण करने लगी। इस शैली को नवाब वजिदअलीशाह के समय के श्रीयुत कालका वृन्दा नामक दो भाइयों ने विकसित और नियोजित किया। ये दोनों भाई गायन तथा तबला वादन में बड़े प्रवीण थे। धीरे-धीरे गायन की भावाभिव्यंजना वाली शैली पद और अंग संचालन के साथ समन्वित हुई, तथा तबले और पखावज के कठिन से कठिन तोड़े, टुकड़े पाँवों से जमीन पर बजाये जाने लगे। इस पद्धति ने अनेक अंगभंगियों के मिश्रण से एक व्यवस्थित नृत्य का रूप ग्रहण किया।

उत्तर प्रदेश, जयपुर आदि के अनेक कथक इन्हीं कालका वृन्दा के शिष्य हैं। लखनऊ के श्री अच्छन, शंभु तथा लक्ष्मण इन्हीं वृन्दाजी के पुत्र हैं। जयपुर के मोहनलाल, जयलाल, सुन्दरलाल, चिरंजीव, नारायण प्रसाद इन्हीं की शिष्य परंपरा में गिने जाते हैं।

कथक नृत्य में आँगिक तथा हस्त मुद्राओं का कोई स्थान नहीं है। केवल पाँवों से निकाले हुए टुकड़ों का ही विशेष महत्व है। अंग संचालन में भी मोड़-तोड़ बहुत कम है। इसकी गतों का अंग बड़ा सुन्दर है। कृष्ण-लीला के अनेक प्रसंग इन गतों के विषय होते हैं। विविध पात्रों का अभिनय एक ही व्यक्ति करता है। कथक नृत्य एक वैयक्तिक नृत्य है और केवल एक ही व्यक्ति विविध कथाओं को नृत्य में बाँधकर प्रदर्शित करता है। कथक की वेशभूषा में चूड़ीदार पाजामा, चमकदार शेरवानी तथा कामदार टोपी विशेष उल्लेखनीय है। यह नृत्य अब तक राजा महाराजाओं तथा नवाबों के दरबारों तक ही सीमित रहा और नृत्यकारों को उन्हीं का आश्रय प्राप्त होता रहा। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से यह नृत्य अपनी सीमोल्लंघन करके जनता के समक्ष उपस्थित हुआ है। उत्तर भारत में इसका अच्छा प्रचार हुआ है। अब शिष्ट घरानों में भी इसका प्रवेश हुआ है और अनेक लड़के और लड़कियाँ इसको बड़े चाव से सीख रहे हैं। इस नृत्य में संगीत का केवल एक ही लहरा बजता है। भावाभिव्यंजना के साथ गाकर भी नृत्य किया जाता है।

यह नृत्य अब तक कुछ ही पेशेवर कलाकारों की धरोहर बना रहा और किसी ने इसको लोकप्रिय और सम्मान योग्य बनाने की चेष्टा नहीं की। इस दृष्टि से स्वर्गीय श्रीमती मेनका का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वही एक मात्र नर्तकी थी, जिन्होंने कथक नृत्य के वैयक्तिक तत्व को मिटाकर उसे सामूहिक नृत्य बनाया, तथा भरत नाट्य और कथकली की तरह ही इसे कथानृत्य का रूप दिया। महाभारत की अनेक कथाओं को उन्होंने इस नृत्य मे बांधा और देश-विदेशों में प्रचारित किया। श्रीमती मेनका का यह कार्य वास्तव मे स्तुत्य है।

(४) मणिपुरी:--

मणिपुरी नृत्य का जन्म और विकास आसाम की सुरम्य पहाड़ियों के बीच अत्यन्त मनोरम वातावरण में हुआ। मणिपुर निवासियों का विश्वास है कि इन नृत्य का आरम्भ देवताओं द्वारा हुआ, इसलिए वह आज भी एक प्रबल धार्मिक नृत्य के रूप में वहाँ का अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य है। इसमें पुरुष और स्त्रियाँ समान रूप से भाग लेते है। वह धार्मिक उत्सवों तथा त्यौहारों पर बड़े समारोह के साथ नाचा जाता है। इसमें राजा प्रजा, अमीर ग़रीब सब भाग लेते है। इसमें कृष्ण जीवन की अनेक कथाओं को नाटकीय ढंग से व्यक्त किया जाता है। इस नृत्य में शास्त्रीय मुद्राओं और भावाभिव्यंजना का कहीं स्थान नहीं है। फिर भी यह नृत्य मणिपुर की मनोरम प्राकृतिक छटा के अनुरूप ही अत्यन्त मनोहर और आकर्षक है। नृत्यकार के शरीर के घुमाव-फिराव में अत्यधिक लोच और कोमलता होती है, जिससे यह नृत्य अन्य नृत्यों से बिलकुल भिन्न हो गया है। पद संचालन की सरलता के कारण भी इस नृत्य का सौन्दर्य पक्ष अक्षुण्ण बना हुआ है। स्त्री पात्रों की पोशाक अत्यंत आकर्षक और चमकीली होती है। उनके मुख पर जाली का नकाब रहता है। पुरुष पात्रों की पोशाक स्त्री पात्रों की अपेक्षा अत्यन्त सरल और फीकी रहती है। इस नृत्य में नृत्यकार स्वयं गाते हैं और अपनी भक्ति भावना का परिचय देते हैं। नृत्य के साथ खोल नामक एक प्रकार की पखावज बजती है। इसके अलावा और कोई वाद्य नहीं बजता।

यह नृत्य भी मणिपुर का सर्वप्रिय लोकनृत्य है, परन्तु वर्षों के निरंतर प्रचार और प्रसार से इसका शास्त्रीय पक्ष भी काफ़ी पुष्ट हुआ है। यह नृत्य अधिकतर मंदिर तथा गाँव के चौराहों पर पूर्णिमा की स्निग्ध रात्रि में होता है और दूर-दूर के दर्शक इसे देखने को एकत्रित होते हैं। इस नृत्य के अनेक प्रकार होते हैं, जो रास नृत्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। कृष्ण जीवन की अनेक झाँकियाँ इन रासों में होती हैं। अलग-अलग अवसर के अलग-अलग रास होते हैं। उनमें से प्रमुख महारास और बसंतरास हैं। महारास कार्तिक पूर्णिमा के दिन नाचा जाता है और बसंतरास चैत्र पूर्णिमा को। मणिपुरी का सबसे प्रसिद्ध नृत्य 'लाई हैरोब' है। इस नृत्य में वनदेवी की आराधना की जाती है। इस नृत्य के १२ प्रसंग हैं और संपूर्ण नृत्य में १५ दिन का समय लगता है।

मणिपुर के सामाजिक जीवन में इन नृत्यों का बड़ा महत्व है। अपनी धार्मिक भावनाओं को वहाँ के निवासी बहुधा नृत्यों में व्यक्त करते हैं। इन नृत्यों के गीत बंगाली कीर्तन की शैली के है और अधिकतर प्रसिद्ध कवि जयदेव, विद्यापति, चंडीदास तथा महाप्रभु चैतन्य की रचनाओं में से लिये गये हैं। मणिपुर नृत्य का पिछले कुछ वर्षों से मणिपुर की सीमा से बाहर भी काफी प्रचार हुआ है। उत्तर भारत के लगभग सभी बड़े शहरों में इस ने अच्छा स्थान प्राप्त किया है। अंग प्रत्यंग की सुन्दर गति, वैष्णव गीतों की मधुरिमा तथा पदसंचालन की सरलता के कारण ही यह नृत्य भद्र परिवारों, स्कूल कालेजों तथा सार्वजनिक समारोहों में लोकप्रिय हुआ है। शांतिनिकेतन इस नृत्य का महान् केन्द्र रहा है। स्वयं गुरुदेव इस नृत्य में रुचि लेते थे और उन्होंने मणिपुरी के बड़े-बड़े गुरुओं को शान्तिनिकेतन में आश्रय प्रदान किया था। उनका प्रसिद्ध नाटक 'चित्राङ्गदा' मणिपुर की एक राजकुमारी ही की साहस की कहानी है, जिसे गुरुदेव ने मणिपुरी शैली में नृत्य-बद्ध किया था।

इस नृत्य के उन्नायकों में विश्वविख्यात नर्तक श्री उदयशंकर भी हैं। यद्यपि उन्होंने अपनी विशिष्ट नृत्य पद्धति में किसी विशिष्ट नृत्य परंपरा का अनुसरण नहीं किया फिर भी उनकी लोकप्रिय शैली में सभी नृत्य शैलियों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उन्होंने शास्त्रीय कलाओं के क्लिष्ट और दुरुह

शास्त्रीय पक्ष को कम करके उसके भावपक्ष को परिस्फुटित किया है और यही कारण है कि विदेशी जनता को भी उनका नृत्य जल्दी समझ में आ जाता है। उन्होंने कथकली नृत्य की मुद्राओं के साथ उसके बहुमुखी भाव-पक्ष को मणिपुरी की मृदुल अंगभंगियों के साथ समन्वित करके एक अतिशय सुन्दर नृत्य पद्धति को जन्म दिया है। श्री उदयशंकर का नाम उन महान् व्यक्तियों में लिया जायेगा, जिन्होंने भारतीय नृत्य को पेशेवर कलाकारों की संकीर्ण मनोवृत्ति तथा शास्त्रों की पेचीदगियों से निकाल कर पुनः लोकप्रिय रूप दिया है। कला को पुनः जीवन दान देने वालों में उनका नाम सदा के लिये अमर हो गया है। उन्होंने भारतीय लोक-नृत्यों को भी एक नवीन रूप दिया है और भारतीय शास्त्रीय और लोक-संगीत का अपनी नृत्य रचनाओं में समुचित प्रयोग किया है। वे एक क्रान्तिकारी कलाकार है जो केवल अपनी प्राचीन धरोहर पर ही जीवित रहना नहीं चाहते। वे नृत्य के महान रचयिता हैं और इसमें उन्होंने जितने प्रयोग किये उतने शायद किसी नृत्यकार ने नहीं किये होंगे। उन्होंने पश्चिमी बेले पद्धति पर कुछ भारतीय बेले की भी रचना की है, जिन में लेबर मशीनरी; जीवन की लय; अनंत लय आदि देश विदेश के रंगमंचों पर काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। वे नवीनता के पक्षपाती है और उनकी सजीव और सप्राण कल्पना सर्वदा ही कुछ नई और अनोखी चीजें रचने में ही प्रवृत्त रहती है। आज उन्होंने देश को एक नवीन नृत्य शैली प्रदान की है, जिस में सभी भारतीय शैलियों की विशेषताएँ होते हुए भी नवयुग के प्राण हैं। इस शैली का प्रति पादन उनके अनेक शिष्यों द्वारा भारत के अनेक शहरों में हो रहा है।

भारतीय लोकनृत्यः—

भारतवर्ष में दो प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। एक शास्त्रीय और दूसरा लोकनृत्य। शास्त्रीय नृत्य में कुछ वक्रताएँ ऐसी होती हैं कि सर्वसाधारण के लिए वह सुलभ नहीं होता। परन्तु लोक नृत्य अपनी सादगी और रोचकता के कारण अधिक लोकप्रिय है। हमारे देश में लोकनृत्यों के अनेक प्रकार विद्यमान हैं, जो लोक जीवन में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इन्हीं लोक नृत्यों से शास्त्रीय नृत्य विकसित हुए हैं। अब ये लोक नृत्य कुछ विशिष्ट

ताज महल – आगरा
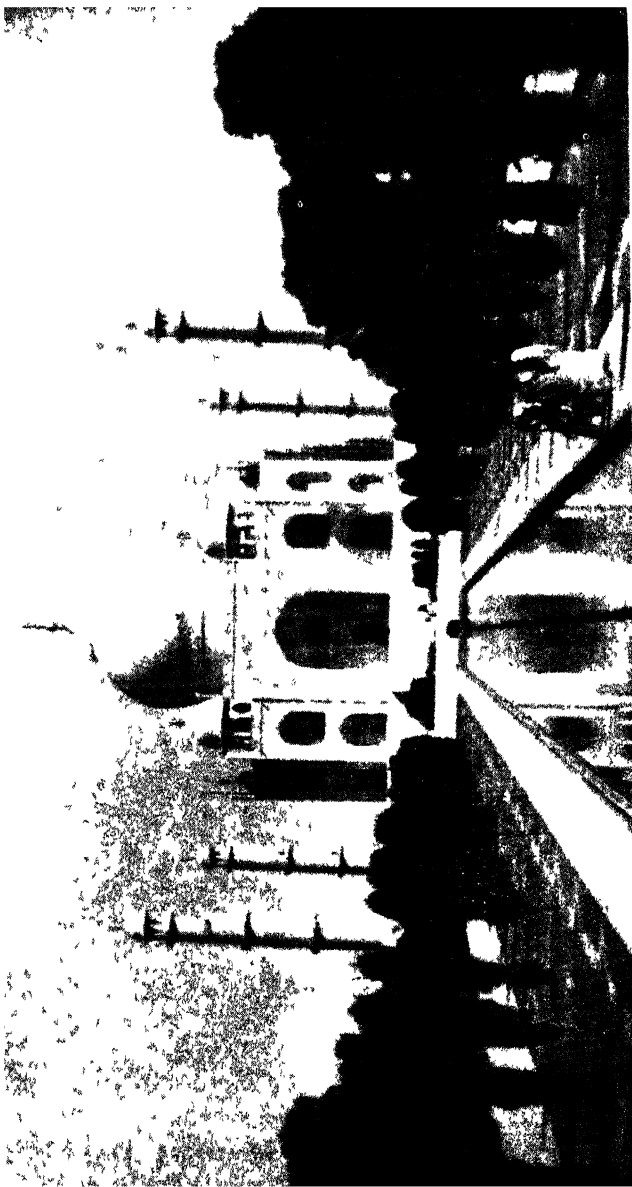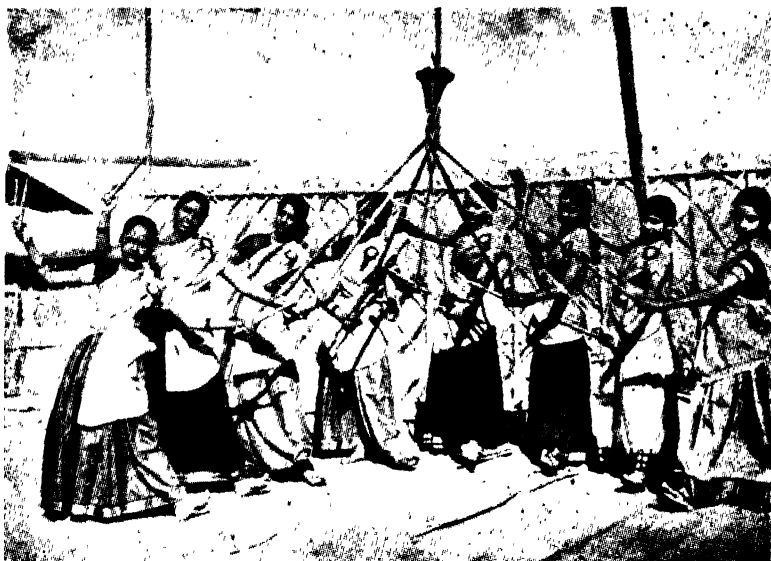
तामिलनाड़ का कोलाट्टम लोक-नृत्य

गुजरात का रास लोक-नृत्य

पेशेवर कलाकारों की आजीविका के साधन बन जाते हैं तब वे उन्हें नियमों और शास्त्रों से बाँधकर सर्वसाधारण के लिए पेचीदा बना देते हैं। दक्षिण भारत का कथकली नृत्य पहले एक लोकनृत्य ही था और आज भी वह अपनी लोकप्रियता के कारण एक प्रकार से लोक नृत्य ही है, परन्तु उसे कुछ पेशेवर कलाकारों ने अनेक शास्त्रोक्त नियमों से इस तरह बाँध दिया कि वह नृत्य की अत्यन्त कठिन शैलियों में गिना जाने लगा। परन्तु इसी के आधार पर दक्षिण भारत में दो दूसरी नृत्य शैलियों का जन्म हुआ, जिनका समावेश लोक नृत्यों में होता है। ये हैं (१) कुचपुड़ी तथा (२) यक्षगान नृत्य। इनका प्रचार कुचपुड़ी के आसपास विशेष हुआ है और ये ग्राम्य मनोरंजन के प्रबल साधन बने हुए हैं। कुचपुड़ी और यक्षगान की अनेक मंडलियाँ दक्षिण भारत के गाँवों का दौरा करती रहती हैं। इनके नृत्य भी कथकली की तरह ही पौराणिक कथाओं पर ही आधारित हैं तथा इनकी पोशाक भी उतनी ही चमकीली और बोझिल होती है।

दक्षिण भारतीय नृत्यों में कुम्मी और कोलाटम् नामक लोक नृत्य अत्यन्त लोकप्रिय हैं। ये नृत्य बालिकाओं द्वारा लकड़ियों से विविध समारोहों के अवसर पर नाचे जाते हैं। लकड़ी के साथ नाचे जाने वाले नृत्यों के अनेक प्रकार हमारे देश में प्रचलित हैं। राजस्थान के गेर, गींदड़ तथा गुजरात के रास-नृत्य प्रसिद्ध हैं। गुजरात में दो प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं, एक रास और दूसरा गरबा। रास दो छोटे डंडों के साथ खेला जाता है और गरबा बिना डंडों के। गुजराती रमणियाँ दशहरा और दीपमालिका के अवसर पर विविध वेशभूषा से सुसज्जित होकर इन नृत्यों को करती हैं। ये नृत्य आज भी जितने प्रचलित हैं उतने अन्य नहीं। गुजरात के सांस्कृतिक जीवन में इन नृत्यों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

राजस्थान में भी ऐसे अनेक सामूहिक नृत्य हैं, जो विवाह उत्सवों तथा त्यौहारों पर बड़े चाव से नाचे जाते हैं। इनमें से कुछ तो व्यावसायिक नृत्य हैं और कुछ सार्वजनिक। व्यावसायिक नृत्यों में 'कठपुतली का नाच', 'नौटंकी', 'रासधारी' तथा 'ख्याल' विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक सिनेमा और अन्य सस्ते और भद्दे मनोरंजनों के कारण इन नृत्यों को बड़ी क्षति पहुँची

है। आर्थिक दृष्टि से भी ये पेशेवर लोक नृत्यकार अत्यंत हीन अवस्था तक पहुँच चुके हैं। अब इन्हें अपनी आजीविका के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। ये सब नृत्य एक समय राजस्थानी लोक जीवन के प्राण बने हुए थे। वे अल्प साधनों और अल्प खर्च पर थोड़े ही समय में अधिक से अधिक जनता का मनोरंजन करने में समर्थ थे।

अव्यावसायिक नृत्यों में भीलों का गौरी नृत्य, घूमर, गेर, शेखावाटी का गींदड़, कच्छी घोड़ी तथा बनजारे, वालदिये, मीणे, नट, सांसी, कंजर आदि के सामूहिक नृत्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नृत्यों में शरीर की सहज गति, तल्लीनता और लयप्रधानता विशेष रहती है। भील, मीणे तथा अन्य आदिवासियों के नृत्यों में स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं। ये सभी नृत्य राष्ट्र की कलात्मक अभिरुचि के परिचायक और लोक संस्कृति के पोषक हैं।

उत्तर प्रदेश के धोबी, चमारों के नृत्य तथा मिरजापुर की कजरियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। बंगाल के संथालों के नृत्य तो भारत प्रसिद्ध हैं ही। वहाँ के बाउल नामक साधुओं के नृत्य अपनी भक्ति भावना और भाव-प्रवणता में अद्वितीय हैं। आसाम की दुर्गम पहाड़ियों में रहने वाली नागा जाति के नृत्य अपनी शक्तिशालिता और लय प्रधानता के लिए सर्व विदित हैं।

भारतीय संस्कृति और उसकी सामूहिक अभिव्यक्ति को सुरक्षित रखना लोक शिक्षण और सामाजिक विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। आधुनिक औद्योगिक और यांत्रिक संस्कृति ने इनके सम्मुख जीवन-मरण का एक महान् विकट प्रश्न उपस्थित कर दिया है। सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात तो यह है कि लोक नृत्यों के सबसे अधिक सुन्दर प्रकार अब समाज के निम्नतर स्तर के लोगों में ही सीमित हो गये है, अन्य स्तर के लोगों ने उन्हें निकृष्ट और हेय समझ कर त्याग दिया है। जो लोकनृत्य एक समय हमारी लोक संस्कृति के सबसे बड़े प्रतीक थे, वे आज समाज के कुछ दीन, हीन लोगों के लिए भिक्षा और याचना के साधन मात्र रह गये हैं।

भारतीय नाट्य

नाट्य का प्रारंभ:--

काव्य के दो प्रकार होते है (१) दृश्य काव्य और (२) श्रव्य काव्य। साहित्य का वह अंग जो रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं हो सकता, अथवा जिसका संबन्ध पढ़ने सुनने से ही रहता है, श्रव्य काव्य की श्रेणी में आता है। जैसे कहानी, उपन्यास, कविता आदि। काव्य का वह रूप, जो रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है और जिसके दर्शन से हृदय तृप्त होता है, दृश्य काव्य की श्रेणी में आता है, जैसे नाटक आदि। किसी व्यक्ति के रूप का आरोप किसी दूसरे व्यक्ति पर होता है, इसलिए नाटक को रूपक भी कहते हैं।

प्राचीन भारत में नाट्य, नृत्य तथा संगीत आज की तरह अलग-अलग दिशा में विकसित नहीं हुए थे। तीनों का आरम्भ और विकास समान परिस्थितियों में हुआ। आरंभिक मानव को प्राकृतिक प्रकोपों से सुरक्षा प्राप्त करने तथा अपने आन्तरिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए उछल-कूद तथा गान नाच की आवश्यकता अनुभव हुई। तभी से इन तीनों कलाओं का जन्म हुआ समझना चाहिए। ये तीनों कलाएँ एक दूसरे के बिना अपूर्ण थीं, इसलिए इनका समन्वित रूप ही हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। आरंभिक नाट्य प्राकृतिक देवताओं की आराधना तथा कुछ विशिष्ट जनों के वीरोचित कृत्यों की याद में रचे जाते थे। विशेष उत्सवों पर देवताओं को प्रसन्न करने के लिए स्वाँग, खेल, कूद आदि रचे जाते थे, जिन में गीत नृत्यादि का विशेष प्रयोग होता था। ये ही स्वाँग, खेल-कूद आदि धीरे-धीरे नाट्य का रूप धारण करने लगे और सभ्यता के विकास के साथ रंगमंचीय नाटकों के रूप में विकसित हुए।

भारतीय नाट्य का आरंभ:--

ऋग्वेद प्राचीन आर्यों का सबसे पुराना ग्रंथ है। उसमें अनेक कथाएँ नाट्य तथा संवाद के रूप में विद्यमान हैं। आज से ३००० वर्ष पूर्व के जैन ग्रंथों में भी

नट नटियों के नाटकों का उल्लेख है। कई नाटकों में कैलाश तक के दृश्य दिखलाये गये है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में नाट्य की अनेक पद्धतियों तथा उनके तत्वों का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। इस ग्रंथ के लिखे जाने से सैकड़ों वर्ष पूर्व हमारे देश में रंगमंच का बाहुमुखी विकास हो चुका था, परन्तु भारतीय नाट्य ने स्वाँग, खेल-तमाशों तथा सामूहिक नकलों से रंगमंचीय नाटक का रूप कब ग्रहण किया यह कहना बड़ा कठिन है। यह तो निश्चित है कि जब मानव जीवन बहुमुखी उन्नति कर लेता है तभी ऐसी व्यवस्थित कला की कल्पना हो सकती है। इसके क्रमिक विकास के सम्बन्ध में नाट्य शास्त्र बहुधा मौन सा है। केवल अनुमान से ही यह कहा जा सकता है कि कठपुतली के नाच से इसकी उत्पत्ति हुई है।

कठपुतली का नाच:--

कठपुतली के नाच की प्रथा आज भी भारतवर्ष में विद्यमान है। ये कठपुतलियाँ नाना प्रकार की वेशभूषाओं से सुसज्जित की जाती है तथा इनके द्वारा कठपुतली नचाने वाला समस्त कथा-प्रसंग को रोचक ढंग से उपस्थित करता है। यह खेल रात्रि के समय होता है और उसके लिए दो खाटों से एक रंगमंच बनाया जाता है। दोनों खाटों के बीच दो परदे एक पीछे और दूसरा आगे लगाये जाते हैं। आगे का परदा कटा हुआ तिबारी नुमा होता है और पीछे वाला सादा और गहरे रंग का। कठपुतली नचाने वाला अथवा सूत्रधार पृष्ठ भाग के परदे के पीछे अपनी उंगलियों पर पुतलियों से बँधे हुए धागों को बाँधे खड़ा रहता है। इन धागों के सहारे वह पुतलियों को रंगमंच पर उतारता है और उनसे नाना प्रकार की क्रियाएँ कराता है। यह सूत्रधार समस्त नृत्य-नाटक का संचालक और व्यवस्थापक होता है। प्राचीन संस्कृत के नाटकों में, जो सूत्रधार की कल्पना की गई है, वह जान पड़ता है इन्हीं कठपुतलियों के खेलों से प्राप्त हुई है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि इन्हीं कठपुतलियों के नाचों से व्यवस्थित रंगमंचीय नाट्य की उत्पत्ति हुई है। उसकी प्रेरणा से निर्जीव कठपुतलियों के बजाय जीवित मनुष्य अपने निर्देशक के निर्देशन में नाट्य का रंगमंच पर प्रदर्शन करने लगे। इसी कारण नाटक के निर्देशक का नाम भी सूत्रधार ही रखा गया। वह नाट्यारंभ से पूर्व

रंगमंच पर उपस्थित होकर तथा नाटक का परिचय आदि देकर नाटक शुरु करता था।

प्राचीन भारतीय रंगशालाएँ अथवा प्रेक्षागृह:--

भरत नाट्य शास्त्र में प्रेक्षागृहों का विशद् वर्णन किया गया है। ये प्रेक्षागृह ध्वनि, दृश्य-विन्यास तथा प्रकाश आदि की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण होते थे। सैकड़ों वर्ष पूर्व के प्रेक्षागृहों की ऐसी समृद्धि देखकर वास्तव में आश्चर्य होने लगता है। हमारे देश में जब जीवन का यह मनोरंजन का पक्ष ही इतना सर्वांगपूर्ण और विकसित था तो अन्य प्रवृत्तियाँ संपन्नावस्था में होंगी। सरगुजा रियासत के रामगढ़ नामक स्थान की दो पहाड़ी गुफ़ाओं में एक प्रेक्षागृह का पता लगा है। ये गुफ़ाएँ ई० पूर्व ३०० वर्ष पुरानी है। भरत नाट्य शास्त्र में तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों का उल्लेख है। (१) चतुरस्त्र (२) त्र्यस्य (३) विकृष्ट। चतुरस्त्र प्रेक्षागृह १०८ हाथ चौड़ा और उतना ही लम्बा होता है। त्र्यस्य प्रेक्षागृह ३२ हाथ लम्बा और त्रिकोणाकार होता है और विकृष्ट प्रेक्षागृह ३२ हाथ चौड़ा और ६४ हाथ लम्बा होता है। इन प्रेक्षागृहों के दो भाग होते थे, एक दर्शकों के लिए, जिसे सोपानाकार कहते थे और दूसरा अभिनेताओं के लिए, जिसमें पोशाक पहिनने, अभिनय करने तथा दृश्य परिवर्तन आदि के लिए अलग-अलग स्थान नियत थे। रोशनी के लिए भी उन प्रेक्षागृहों में बड़े-बड़े दीप रखने की व्यवस्था थी, जहाँ से प्रकाश सीधा अभिनेताओं के मुख पर पड़ता था। वेशभूषा तथा मेकअप का रंग पात्रों के गुण दोषों पर निर्भर रहता था। देवी-देवताओं के लिए भी विशेष रंग निश्चित थे। भरत नाट्य शास्त्र, संगीत रत्नाकर तथा अभिनय दर्पण जैसे प्राचीन शास्त्रों में मेकअप तथा वेश-विन्यास का बड़ा विशद और वैज्ञानिक वर्णन है। प्राचीन नाट्य कला में इन बातों का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था। इसमें छोटी सी भूल को भी आपत्ति जनक और अनिष्टकारी समझा जाता था, क्योंकि उस समय नाट्य मनुष्य के लिए अत्यन्त मांगलीक और धार्मिक कृत्य समझा जाता था।

प्राचीन भारतीय नाट्य के तत्व:--

प्राचीन भारतीय नाट्य के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने अनेक ग्रंथ रचे हैं और अनेक नियमों से उन्हें बाँध दिया है। प्रारंभिक नाट्य में इन सब नियमों

की ग्रावश्यकता नहीं थी, क्योंकि वह मनुष्य के स्वाभाविक ग्रानन्द की सहज ग्रौर स्वाभाविक ग्रभिव्यक्ति था। परन्तु धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ नाट्य के ग्राचार्यों ने उस सहज ग्रभिव्यक्ति को शास्त्र के ग्रनेक निर्देशों से जटिल बना डाला। यहाँ तक कि सातवीं ग्रौर ग्राठवीं शताब्दी के लगभग सभी नाटक इन्हीं शास्त्रोक्त नियमों के प्रतिपादन के लिए ही लिखे गये। यह हम जानते हैं कि नाटक के सहज सौन्दर्य के लिए ये सब नियम कभी-कभी घातक सिद्ध होते हैं ग्रौर उनके पालन की विशेष ग्रावश्यकता भी नहीं होती, फिर भी कुछ नियंत्रण तो ग्रावश्यक होता है। इसी दृष्टि से प्राचीन नाट्य के विशेष तत्वों का विवेचन यहाँ किया जाता है। वे तत्व इस प्रकार हैं :–

(१) वस्तु (२) ग्रवस्थाएँ (३) पात्र (४) रस

(१) वस्तु:–वस्तु का तात्पर्य कथा से है। कथानक के ग्राधार पर नाटक की रचना होती है। नाट्य की रुचि ग्रक्षुण्ण रखने के लिए कथा का रोचक होना बहुत ही ग्रावश्यक है। मूल कथा के साथ कुछ प्रासंगिक ग्रथवा सहायक कथाएँ भी जुड़ी हुई होती हैं, जिनका उद्देश्य मूल कथा को पुष्ट करना होता है। कथा इतनी महत्वपूर्ण तथा जीवनोपयोगी होनी चाहिये कि उस पर नाट्य रचना सुन्दर ढंग से हो सके।

(२) अवस्थाएँ:–नाटक में कार्य-व्यापार की दृष्टि से विभिन्न ग्रवस्थाएँ होती हैं, जिनका प्रतिपादन नाट्य की सफलता के लिए ग्रत्यन्त ग्रावश्यक होता है। नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए कि दर्शकों की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये ग्रौर एक क्रमबद्ध शृंखला की तरह नाटक की प्रत्येक ग्रवस्था एक दूसरे से बँधकर फलागम तक पहुँच सके। ये ग्रवस्थाएँ पाँच हैं (१) प्रारम्भ (२) यत्न (३) प्रादयाशा (४) नियताप्ति (५) फलागम।

(१) प्रारम्भ :—जिसमें किसी निश्चित फल की प्राप्ति की इच्छा रहती है। नाट्य की कथा में जिस निश्चित लक्ष्य तक पहुँचना होता है, उसकी इच्छा इस ग्रवस्था में प्रकट होती है।

(२) यत्न :—नाट्य कथा की यह वह ग्रवस्था है, जिस में उस फल को प्राप्त करने का यत्न शुरू होता है।

(३) प्राप्त्याशा :—जिसमें फल की प्राप्ति समीप भी आवे और कुछ-कुछ दूर भी हो।

(४) नियताप्ति :—इसमें फल-प्राप्ति की निश्चितता रहती है।

(५) फलागम :—इस अवस्था में फल की प्राप्ति होती है और नाटक समाप्त हो जाता है।

(३) पात्र:— नाटक में अनेक पात्र होते हैं, परन्तु उन में जो प्रधान पात्र होता है और जिस पर समस्त कथा का आधार रहता है, वह उसका नायक होता है। प्राचीन और नवीन सभी नाटकों में नायक अवश्य रहता है। प्राचीन ग्रंथों में नायक नायिकाओं के संबन्ध में जितनी व्याख्या की गई है, उतनी शायद किसी अन्य प्रसंग पर नहीं की गई। वैसे यह प्रसंग तो बहुत बड़ा है परन्तु यहाँ संक्षेप में चार विशेष प्रकार के नायकों के सम्बन्ध में लिखना ही पर्याप्त होगा। शास्त्रकारों ने चार प्रकार के नायकों का उल्लेख किया है :—

(१) धीरोदात्त (२) धीर ललित (३) धीरोद्धत्त (४) धीर प्रशान्त।

(१) धीरो दात्त—नायक वह होता है जो क्रोध आदि अवगुणों से रहित होता है और धैर्यवान और क्षमावान होता है।

(२) धीर ललित—नायक कलात्मक, सुखी और मृदुल होता है।

(३) धीरोद्धत्त—नायक मायावी, छली, प्रचंड, चपल और अहंकारी होता है।

(४) धीर प्रशान्त—नायक सात्विक वृत्ति वाला और शान्त स्वभाव का होता है।

इसी प्रकार नायिकाओं के भी अनेक भेद उपभेदों का वर्णन शास्त्रकारों ने किया है।

(४) रस:—रस काव्य की आत्मा है। जिस प्रकार स्वादिष्ट और आनन्द-प्रद भोजन करने से विशेष आनन्द मिलता है तथा शरीर में एक विशेष प्रकार

के रस का संचार होता है, उसी प्रकार सुन्दर काव्य के श्रवण, दर्शन से हृदय में एक विशिष्ट रस का संचार तथा आनन्द की अनुभूति होती है। दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य से कहीं अधिक रस की निष्पत्ति होती है, क्योंकि रसोद्रेक करने वाली सभी वास्तविक परिस्थितियाँ, चाहे वे अनुकरण के रूप में ही क्यों न हो, दर्शकों के सम्मुख होती हैं। श्रव्य काव्य में पाठकों को वास्तविक पात्रों और परिस्थितियों की कल्पना करनी पड़ती है; परन्तु एक नाटक में अभिनेता अपनी वेशभूषा, वाणी तथा हावभाव से दर्शकों के मन में रसोद्रेक करता है, इसलिए रस को नाटक की आत्मा माना गया है। आज भी चित्रपट पर किसी दृश्य को देखने में जो आनन्द आता है, उतना उपन्यास तथा कहानी पढ़ने में नहीं आता है। उससे भी अधिक प्रभाव तो तब पड़ता है जब हम रंगमंच पर सजीव पात्रों को अभिनय करते हुए देखते हैं। शास्त्रकारों ने इस रस प्रसंग पर अनेक ग्रंथ रचे हैं और रस की अनुभूति में जिन स्थितियों और अवस्थाओं की आवश्यकता होती है, उनका बड़ा विशद वर्णन किया है। प्राचीन नाट्य शास्त्रों के अनुसार ६ प्रकार के रस माने गये हैं, जो मन की ६ विविध मनः स्थितियों के द्योतक हैं :—

(१) शृंगार (२) हास्य (३) वीर (४) करुण (५) शान्त (६) वीभत्स (७) रौद्र (८) अद्भुत (६) भयानक।

प्राचीन भारतीय नाट्यः—

उक्त नाटकीय तत्वों और नियमों के अनुसार संस्कृत भाषा में अनेक नाटक लिखे गये। वे आज भी हमारे साहित्य के गौरव बने हुए हैं। उनके लिए उपयुक्त रंगमंच तथा अनुकूल वातावरण न होने के कारण वे अब खेले नहीं जाते। आज तो मानव अपनी बहुमुखी समस्याओं में इतना अधिक उलझ गया है कि स्वस्थ मनोरंजन के लिए उसके पास समय तक नहीं। प्राचीन समय में कला का जीवन में ऊँचा स्थान था और हर व्यक्ति उसे देखने, खेलने तथा सराहने की क्षमता रखता था। रंगमंच ही कला का ऐसा रूप था, जिस में संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य, वास्तु, शिल्प आदि का सुन्दर सामंजस्य रहता था। प्रेक्षागृह को बनाने तथा रंगमंच को सजाने-सँवारने में बड़े-बड़े

शिल्पकार, मूर्तिकार तथा चित्रकारों की सेवाओं की आवश्यकता होती थी, तथा कुशल नृत्यकार और संगीतकारों का सहयोग अभिनय को सफल बनाने में वांछनीय था। इसीलिए संसार का ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ नाट्य-कला का लोक-जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान न रहा हो। भारतीय रंगमंच की इतनी समृद्धि के कारण ही हमारे देश में इतने सुन्दर नाटक लिखे गये।

प्राचीन नाटक और नाटक-लेखक:—

संस्कृत के सबसे पुराने नाटककारों में भास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अब तक तो उनके नाटकों का केवल उल्लेख मात्र मिलता था परन्तु कुछ ही समय पूर्व उनके १२ नाटकों का पता लगा है और उनका संपादन भी हुआ है। अश्वघोष और शूद्रक नामक दो और नाटककार हैं, जिनके नाम भास के साथ ही आते हैं। उनके क्रमशः शारिपुत्र और मृच्छकटिका नामक नाटक काफ़ी प्रसिद्ध हैं। उनके बाद कालिदास हुए, जो भारतीय साहित्याकाश में सूर्य के समान उदित हुए। वे चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्नों में थे। उनके लिखे हुए 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशी' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नामक नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये नाटक चौथी शताब्दी में लिखे गये। छठी शताब्दी में शूद्रक ने 'मृच्छकटिका' नामक नाटक लिखा। सातवीं शताब्दी में हर्ष ने 'रत्नावली' तथा 'प्रिय दर्शिका' नामक नाटकों की रचना की। आठवीं शताब्दी में भवभूति नामक सुप्रसिद्ध कवि हुए, जिनके 'महावीर चरित्र', 'मालती माधव' तथा 'उत्तर राम चरित्र' नामक नाटक प्रसिद्ध हैं। नवीं शताब्दी में भट्टनारायण द्वारा 'बेणी संहार' नाटक लिखा गया। दसवीं शताब्दी में राज शेखर ने 'कर्पूर मंजरी', 'बाल भारत', 'बालरामायण' नाटक लिखे। ११वीं शताब्दी में दामोदर मिश्र ने 'हनुमन्नाटक' लिखा।

१३वीं शताब्दी के बाद संस्कृत में कोई अच्छा नाटक नहीं लिखा गया, क्योंकि वह समय देश में विदेशी आक्रमण तथा राजनैतिक उथल-पुथल का था। हमारा रंगमंच शिथिल हो गया और उसके परिणाम स्वरूप कोई भी अच्छा

नाटक नहीं लिखा गया। यह स्थिति लगभग चार पांच शताब्दियों तक चलती रही, क्योंकि उस समय के मुसलमान शासकों ने धार्मिक कारणों से इस कला को प्रोत्साहन नहीं दिया। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमारी राजनैतिक स्थिति में कुछ स्थायित्व आने लगा और तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना के कारण प्रत्येक भारतवासी के हृदय में आशा का संचार हुआ। उस समय पश्चिमी नाटकों के आधार पर कुछ हिन्दी नाटक लिखे गये, जो बाद में पारसी नाटक कंपनियों द्वारा रंगमंच पर अभिनीत हुए। यद्यपि वे नाटक नाट्यकला की दृष्टि से निम्न कोटि के थे, फिर भी भारतीय रंगमंच की पुनर्जागृति में इनका प्रमुख हाथ रहा है। 'न्यू एलफ्रेड', 'कोरंथियन', 'पारसी एल्फ्रेड', 'एलेग्ज़ेन्ड्रिया' आदि उस समय की प्रमुख नाटक कंपनियों ने उत्तर भारत में नाट्यकला को पुनः जागृत किया। इनके प्रमुख नाटक सिल्वर किंग; हेमलेट; खूबसूरत बला; गुलबकावली; इन्द्र सभा आदि थे। इन नाटकों का स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का था। इनके लंबे-लंबे संवाद; अतिरंजित और अस्वाभाविक अभिनय तथा ऊपर नीचे उतरने वाले विविध दृश्यावलियों के परदे तत्कालीन रंगमंच की अपरिपक्वता और अस्वाभाविकता के ही द्योतक थे।

इन नाटकों से प्रेरित होकर कुछ हिन्दी के लेखकों ने भी प्राचीन भारतीय आख्यानों के आधार पर कुछ नाटक लिखे तथा उनके अनुकूल ही नाट्य मंडलियों की रचना की। उन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, विश्वंभर सहाय 'व्याकुल', राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र आदि नाट्यकार विशेष उल्लेखनीय हैं। बंगाल में भी स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के नेतृत्व में बंगाली रंगमंच का विकास हुआ और कुछ बहुत ही सुन्दर नाटक लिखे और खेले गये। ये नाटक निश्चय ही हिन्दी नाटकों से अच्छे थे और उनके कई अनुवाद हिन्दी में भी हुए। उस समय इन नाटकों की उत्तर भारत में बड़ी धूम थी। शिष्ट समाज में इन नाटकों का बड़ा प्रचार हुआ, परन्तु नाट्य तंत्र की दृष्टि से ये पारसी नाटकों की शैली से बहुत भिन्न नहीं थे। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में साहित्यिकता तथा नाटकीय गुणों का अच्छा समावेश हुआ है। इन नाटकों में भी पारसी नाटकों की तरह अनेक दृश्यों की योजना थी तथा मुख्य कथा के साथ अप्रासंगिक प्रहसन का अनमेल योग नाट्यकला की दृष्टि से अस्वा-भाविक था।

उसके बाद हिन्दी साहित्य के अमर लेखक बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के नाटक हिन्दी में अवतरित हुए। वे निश्चय ही साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि के नाटक थे, परन्तु वे रंगमंच के लिए उपयुक्त नहीं थे। इसलिये उन नाटकों का महत्व उनके अवतरण के साथ ही समाप्त हो गया। यह समय भी भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का था और स्वस्थ मनोरंजन के लिए उपयुक्त नहीं था; तब तक पारसी नाटक कंपनियों का समय भी बीत गया और कालेजों व स्कूलों में कुछ नवीन शैली के नाटकों के प्रयोग हुए। हमारे देश में इसी समय वाक् चित्रपट का आगमन हुआ और उसके साथ ही नाट्य की रही सही प्रवृत्तियाँ भी समाप्त हो गईं। बंगाल, महाराष्ट्र तथा गुजरात में तो तब भी नाट्य कला की दृष्टि से अच्छी प्रगति हुई और कई प्रतिभाशाली लेखकों ने नवीन रंगमंच के लिए नवीन शैली के नाटकों की रचना की। इन प्रान्तीय नाट्यकारों ने प्रान्तीय रंगमंच को विकसित करने के लिए अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया। परन्तु हिन्दी का रंगमंच फिर भी अविकसित और इन सब प्रगतिशील प्रयोगों से अप्रभावित ही रहा।

एकांकी नाटक:—

औद्योगीकरण और विज्ञान के इस यान्त्रिक युग में, जब मनुष्य के सामने समय की सबसे बड़ी समस्या है, तब मनोरंजन के वे अत्यधिक लंबे और समय खपाने वाले साधन उपयुक्त नहीं हो सकते। अतः पाश्चात्य एकांकी नाटक की परंपरा के आधार पर ही हमारे देश में भी एकांकी नाटकों की प्रथा चल पड़ी। इन एकांकियों ने शिक्षालयों के रंगमंच पर अच्छी सफलता प्राप्त की। ये एकांकी नाटक केवल छोटे होने के कारण ही लोकप्रिय नहीं हुए बरन् वे अपनी भावप्रवणता, घटना संकलन तथा रुचिशीलता के कारण अधिक पसंद किये गये। इन एकांकियों के लिए विशद व्यवस्था तथा कठिन उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। थोड़े से समय में और थोड़े से साधनों के साथ ही ये अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से खेले जा सकते हैं। हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों में श्री रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वरप्रसाद, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय नाट्य और सिनेमा:—

जो रंगमंच पिछले २००० वर्षों से भारत के गौरव को बढ़ाता रहा, वह आधुनिक सिनेमा के कारण अस्त सा हो गया। जब कुछ ही समय में कम से कम दामों पर अधिक से अधिक मनोरंजन की सामग्री मिल सकती है, तो बड़े-बड़े मनोरंजनों पर क्यों धन और समय खपाया जाये। इसी मनोवृत्ति ने भारतीय रंगमंच को बड़ी क्षति पहुँचाई है। एक नाटक कंपनी को अभिनेताओं का एक बड़ा दल तथा भारी भरकम नाट्य-सामग्री को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना बड़ा भारी सिर दर्द था। यदि कंपनी का एक भी अभिनेता बीमार हो जाता या कंपनी छोड़ देता तो नाट्य-प्रदर्शन असंभव हो जाता और सारी व्यवस्था बिगड़ जाती। नाट्य रंगमंच पर सिनेमा की तरह उड़ते हुए हवाई जहाज, दौड़ती हुई रेलें, बरसती हुई मूसलाधार बर्षा तथा दिल को दहलाने वाले अनेक दृश्य उपस्थित नहीं किये जा सकते। इन्हीं सब मर्यादाओं के कारण रंगमंच पर सिनेमा की विजय हुई और हमारा रंगमंच प्रायः नष्ट सा हो गया। संसार के अनेक उन्नत देशों ने इन सब मर्यादाओं के बावजूद भी अपने रंगमंच को सुरक्षित रखा है। वहाँ आधुनिक सिनेमा के साथ रंगमंचीय प्रदर्शनों का भी बड़ा मूल्य है। सिनेमा चाहे कितना ही आकर्षक और सर्वाङ्गपूर्ण क्यों न हो वह वास्तविक नहीं। सिनेमा में वास्तविक मनुष्य की जगह उसकी केवल प्रतिच्छाया मात्र हमारे सामने उपस्थित होती है। अभिनेता और दर्शकों का जब तक सीधा साक्षात्कार नहीं होता तब तक वह प्रदर्शन हृदय पर सीधा असर नहीं करता। दुर्भाग्य से आज हमारे अधिकांश भारतीय फिल्म-निर्माता धनोपार्जन के लोभ में गंदे से गंदे चित्र बनाने में प्रवृत्त हैं।

फिल्मी अभिनेता अपने सुन्दर अभिनय के फलस्वरूप प्रत्यक्ष साधुवाद का भागी नहीं बनता। उसे अपने सहस्त्रों दर्शकों के सम्मुख अपनी कला को स्वयं उपस्थित करने का अवसर नहीं मिलता। वह धीरे-धीरे फिल्म-निर्माण कार्य में स्वयं मशीन का एक पुर्जा बन जाता है और अभिनय कला के आन्तरिक आनन्द को धीरे-धीरे खो बैठता है। वैसे तो सिनेमा भी नाट्य का एक रूप ही है; परन्तु उससे लेखकों को नाटक लिखने की प्रेरणा नहीं मिलती।

नागा जाति का नृत्य

कठपुतल का अभिनय चित्र

यक्षगान की एक नृत्य मुद्रा

फिल्म के लिए जो सिनेरियो लिखा जाता है वह साहित्य की कृति नहीं समझा जा सकता और उत्पादकों के नियंत्रण और संरक्षण के कारण वह छापा भी नहीं जा सकता। अतः हमारी देश की नाट्यकला को पुनर्जीवित और विकसित करने के लिए रंगमंचीय नाटकों को पुनः प्रतिष्ठित करना होगा। देश के विविध भागों में ऐसे राष्ट्रीय रंगमंचों की स्थापना होनी चाहिए, जहाँ पेशेवर और शौकिया कलाकार अपनी नाट्यकला का परिचय दे सकें। इधर प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने रंगमंच की स्थापना कर भारतीय नाट्य के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़ दिया है। जब ऐसे रंगमंच की पुनः प्रतिष्ठा होगी तभी सुन्दर और सच्चे नाटक भी लिखे जायेंगे। कई वर्षों से जो हमारे देश में अच्छे नाटक नहीं लिखे गये, उसका मुख्य कारण उपयुक्त रंगमंच का अभाव है। इस समय हमारा देश समस्त विश्व का दूसरा बड़ा फिल्म निर्माता देश है, फिर भी उसने एक भी ऐसा चित्र नहीं बनाया जो भारतीय कला, साहित्य और संस्कृति का प्रतिनिधि चित्र हो, या जिसने हमारे देश के सामाजिक और शैक्षणिक स्तर को ऊपर उठाने का यत्न किया हो। वैसे यदि कोशिश की जाय तो हमारा सिनेमा भी अन्य उन्नत देशों के चित्रों की तरह ही देश की सर्वाङ्गीण उन्नति का साधन बन सकता है।

भारतीय लोक नाट्यः--

हमारे देश में जहाँ उच्च मानसिक स्तर के नागरिकों के लिए भास, कालिदास, भवभूति, हर्ष तथा अश्वघोष आदि नाटककार हुए, वहाँ सर्वसाधारण के लिए भी ऐसे नाटक थे जहाँ निःशुल्क और स्वस्थ मनोरंजन हो सकता था। ये नाटक गांव की सड़कों, चौराहों तथा मंदिरों के आंगन में हुआ करते थे। शास्त्रीय और लोककलाओं में पहले इतना भेद नहीं था, जितना आज है; क्योंकि पहले दोनों प्रकार की कलाओं में सभी श्रेणियों के लोग रुचि लेते थे और दोनों के मानसिक और सांस्कृतिक धरातल के बीच इतनी चौड़ी खाई नहीं थी जितनी आज है। साधारण वर्ग को नाट्यावलोकन के लिए राज प्रासादों में जाने की अनुमति थी और शासकगण सर्वसाधारण के मनोरंजन में मनोयोगपूर्वक भाग लेते थे। प्रत्येक प्राचीन प्रेक्षागृह में शूद्रों तथा निम्न वर्ग के लिए अलग से स्थान नियत था। आज तो यह खाई बहुत अधिक बढ़ गई

है, क्योंकि हमारी आर्थिक और सामाजिक असमानता भी बहुत बढ़ती जा रही है। यही कारण है कि हमारी शास्त्रीय और लोककलाओं के पारस्परिक मिलन का कोई स्थान नहीं।

जन साधारण के मनोरंजन के लिए हमारे देश में अनेक ऐसे लोकनाट्य थें, जिनके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख इन पृष्ठों में किया जाता है।

उत्तर प्रदेश की रासलीला और रामलीलाः--

आज से कुछ वर्ष पूर्व इन लीलाओं का हमारे सामाजिक जीवन में बहुत महत्व था। काशी तथा मथुरा की अनेक मंडलियाँ उत्तर भारत में प्रदर्शन के हेतु निकल जाती थीं। प्रारम्भ में ये लीलाएँ अन्य लोक नाट्यों की तरह ही गाँव के चौराहों पर खुले मैदान में हुआ करती थीं, परन्तु बाद मे पारसी नाटक कंपनियों के प्रभाव से रामलीला का प्रदर्शन किसी बन्द स्थान में रंगमंच पर तथा रासलीला का मंदिरों की चाहार दीवारी में होने लगा। रामलीला के प्रारम्भ के साथ रामलीला का संचालक रामायण के पद गाता था और अभिनेता विविध वेशभूषाओं से सुसज्जित होकर रंगमंच पर आते थे और उन चौपाइयों के आधार पर संवाद कहते थे। लगभग एक माह के समय में समस्त रामायण का प्रसंग पूरा होता था। इस नाट्य में स्त्री पात्रों का अभिनय भी पुरुष ही करते थे। जब किसी पात्र को नाट्य-प्रसंग के अन्तर्गत ही कहीं एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना होता तो अन्य नाटकों की तरह दृश्य-परिवर्तन नहीं होता था। उसके रंगमंच से नीचे उतर कर सामने की छूटी हुई जगह पर चार पाँच चक्कर लगाकर पुनः रंगमंच पर लौट आने से ही यह समझ लिया जाता था कि वह सैंकड़ों मील चलकर नियत्त स्थान तक पहुँच गया है। इस नाट्य में भी प्राचीन नाट्यों की तरह संगीत और नृत्य को प्रमुख स्थान प्राप्त था। इस नाट्य की मूल पृष्ठभूमि धार्मिक होने के कारण इसका किसी समय बहुत प्रचार था। अन्य लोकनाट्यों की तरह ही यह भी निःशुल्क मनोरंजन था। नाट्य के प्रारम्भ और समाप्ति के समय राम-सीता की आरती

में दर्शकों द्वारा जो ऐच्छिक दान मिलता था, उसी से नाट्य-मंडली का खर्च निकलता था।

रासलीला में भगवान कृष्ण की लीलाओं का अभिनय होता था। इस नाट्य में रंगमंच का कोई आधार नहीं लिया जाता था। वह किसी मंदिर अथवा धार्मिक स्थान में अभिनीत होता था। यह नाट्य विशुद्ध नृत्य नाट्य था और संवाद बहुधा गीत और नृत्यों में ही होते थे। रास लीला का निर्देशक भागवत के गीतों को उच्च स्वर में गाता था और अभिनेता विविध भूमिकाओं में उनका अभिनय करता था। रासलील। नृत्य और संगीत प्रधान नाट्य है और रामलीला अभिनय प्रधान। रामलीला मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन की तरह उपदेशात्मक थी और रासलीला नटवर कृष्णजी के जीवन की तरह कलात्मक। रासलीला में भी स्त्री पात्र का काम पुरुष ही करते थे। इन अभिनेताओं का भरण पोषण मंदिर से प्राप्त हुई खाद्य सामग्री तथा आरती से आये हुए द्रव्य से होता था। इन दोनों ही नाट्यों का प्रचार आज से २५ वर्ष पूर्व उत्तर भारत में बहुत था, परन्तु आज तो उनका बिलकुल ही लोप हो गया है।

परबतसर (मारवाड़) के कठपुतली के नाच:--

इस नाट्य के सम्बन्ध में पहले लिखा ही जा चुका है। कठपुतली की विविध शैलियाँ लगभग सारे भारतवर्ष में विद्यमान हैं। इनमें परबतसर के कठपुतली के नाच सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। किसी समय इन गरीब कलाकारों की आजीविका का यही एक मात्र साधन था और उन्हें शिक्षित, अशिक्षित तथा धनी मानी सब के यहाँ सम्मान का पद प्राप्त था; परन्तु आज इनकी अवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई है। इन्हें अब अपने परंपरागत पेशे को छोड़कर मेहनत मजदूरी करना पड़ रहा है। ये लोग प्रति वर्ष सावन भादों के महीनों में दल बाँधकर तथा कठपुतलियों का बोझा सिर पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान का दौरा करते हैं और अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। एक व्यक्ति परदे के पीछे से सूत्रों के आधार पर कठपुतलियों को नचाता है और दूसरा ढोलक पर कथा प्रसंग से संबन्धित गीत गाता है। पिछले

१०० वर्षों से इस नाट्य का विषय राजस्थान के सुप्रसिद्ध राजा अमरसिंह राठौर तथा राजा केसरीसिंह रहे हैं। उससे पूर्व अनेक पौराणिक कथाओं के आधार पर भी कठपुतलियों का नाच होता था।

भीलों का 'गौरी' नाट्य:--

यह नाट्य राजस्थानी भीलों का एक सुप्रसिद्ध नृत्य-नाट्य है। इसमें भीलों के आराध्य देव भैरव (शिव का एक रूप) के विविध पहलुओं का नृत्य अभिनय होता है। यह नाट्य भाद्रपद में लगभग १।। माह तक सुबह से शाम तक किसी गाँव के चौराहे पर होता है। इस नाट्य में भाग लेने वाले भील लगभग १।। मास तक हरी सब्जी तथा मांस मदिरा का सेवन नहीं करते। दिन में वे एक ही बार भोजन करते है और नृत्योपरान्त अपना अधिकांश समय भगवान भैरव की आराधना पूजा में ही लगाते हैं। यह प्रदर्शन गाँव के किसी चौराहे पर खुले मैदान में होता है और दर्शकगण इसके चारों तरफ गोला बाँध कर बैठ जाते हैं। स्त्रियाँ इस नाट्य में भाग नहीं लेतीं। उनका अभिनय पुरुष पात्र द्वारा ही होता है। इस नाट्य का नायक 'बूढ़िया' नामक पात्र होता है, जो भगवान भैरवनाथ का ही एक रूप है। उसके मुख पर काठ का बना हुआ एक भयानक चेहरा लगा रहता है, तथा उसकी अन्य पोशाक भी अन्य पात्रों से काफ़ी भिन्न रहती है। पार्वती और उमा की भूमिका में दो पुरुष पात्र स्त्रियों की पोशाक में काम करते हैं, जिन्हें 'राइयाँ' कहते हैं। ये दोनों 'राइयाँ' और 'बूढ़िया' समस्त नाट्य के प्रमुख पात्र हैं, तथा समस्त दर्शक तथा अभिनेताओं के श्रद्धा के पात्र होते हैं। नाट्यारम्भ से पूर्व गाँव की अनेक स्त्रियाँ उनकी आरती उतारती हैं तथा श्रीफल, मिष्ठान्न तथा वस्त्रादि की उन्हें भेंट देती हैं। नाट्य का आरम्भ भैरवनाथ की पूजा के साथ एक सामूहिक नृत्य से होता है। नृत्य की गति जैसे-जैसे तीव्र और गंभीर होती जाती है वैसे वैसे रणवाद्यों की तरह मादल और झालर, जो इसके दो प्रमुख वाद्य हैं, अधिक तेजी से बजने लगते हैं। इन दोनों वाद्य की ध्वनि इतनी प्रभावशाली और तेज होती है कि नाचने वालों के अंग प्रत्यंग स्वतः ही थिरकने लगते हैं। इस सामूहिक नृत्य के बाद भैरव-जीवन के अनेक काल्पनिक प्रसंगों का अभिनय शुरू होता है, बीच-बीच में तत्सम्बन्धी नाच भी होते हैं। पात्रों को

स्वयं नहीं बोलना पड़ता। बोलने वाला एक व्यक्ति होता है, जो समस्त संवादों को प्रश्नों के रूप में रखता है और पात्रों को उनका उत्तर केवल हाँ या ना में देना पड़ता है। यह समस्त गौरी नाट्य का सूत्रधार होता है और भीलों की भाषा में इसे 'कुटकड़िया' कहते हैं, जिसका अर्थ है बकवास करने वाला। गौरी में भाग लेने वाले सभी भील बड़े विनोदशील, तुरतबुद्धि और हाजिर जबाब होते हैं और अपने इन गुणों से समस्त नाट्य को दर्शकों के लिए मनोरंजक बना देते हैं।

इस नाट्य के प्रत्येक कथा-प्रसंग की समाप्ति पर सामूहिक नृत्य होता है, जो अंगभंगियों और तल्लीनता की दृष्टि से अत्यंत ओजपूर्ण है। इस नाट्य को देखने के लिए दूर-दूर से दर्शकगण एकत्रित होते हैं। यह नाट्य भीलों के लिए आजीविका उपार्जन का साधन नहीं है और न उसमें दान स्वरूप दिये हुए धन को ग्रहण ही किया जाता है। यह एक जातीय नृत्य है, जो एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में प्रतिवर्ष किया जाता है।

राजस्थान के ख्याल और रास धारियाँ:-

राजस्थान जिस तरह अपने वीर कृत्यों तथा साहसिक कार्यों के लिए प्रसिद्ध है, उसी तरह वह अपने 'ख्याल' और 'रासधारियों' के लिए भी सर्व विदित है। यहाँ के वीरों और योद्धाओं की वीरतापूर्ण गाथाओं को चारणों ने अपनी ख्यातों में अंकित किया, भाटों ने अपनी कविताओं में गाया तथा नृत्यकारों ने अपने 'ख्यालों' में व्यक्त किया। राजस्थानी संस्कृति का सच्चा स्वरूप इन्हीं ख्यालों तथा ख्यातों में अंकित है। इन 'ख्यालों' के कथा प्रसंग ऐतिहासिक भी है और पौराणिक भी। पौराणिक प्रसंगों में राजा भर्तृहरि, राजा हरिश्चन्द, राजा गोपीचन्द तथा रामायण और महाभारत के प्रसंग उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक कथाओं में 'अमरसिंह राठोड़' तथा 'राजा केसरीसिंह के खेल' विशेष प्रसिद्ध हैं। रासधारियों और ख्यालों की परंपरा समस्त राजस्थान और उससे लगे हुए मालवा के कुछ भागों में है। इन दोनों शैलियों में कोई विशेष अंतर नहीं हैं।

ख्याल और रासधारियों की मंडलियाँ पेशेवर कलाकारों की भी होती हैं और शौकिया कलाकारों की भी। पेशेवर कलाकारों में मिरासी, ढोली, भाट

आदि जातियों के लोग विशेष होते हैं, जो राजस्थान और मालवा की संगीत और नृत्य की पेशेवर जातियाँ हैं। गायन, वादन तथा नर्तन इनका पैतृक व्यवसाय है। स्वभाव से ही ये गाने और नाचने में पटु होते हैं। शौकिया खेल तमाशे करने वालों में जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं होता। सभी जातियों के लोग मिलकर ये खेल तमाशे करते हैं। पेशेवर कलाकारों की मंडलियाँ अब बहुत ही कम रह गई हैं। बीकानेर तथा बगड़ी की रासधारियाँ किसी समय बहुत प्रसिद्ध थीं। ये लोग बहुधा फागुन और चैत्र में अपनी मंडलियों के साथ समस्त राजस्थान और उत्तर भारत का दौरा करते थे। गाँव के किसी एक चौराहे पर रात्रि के समय इनका अड्डा जमता था। इन्हें देखने के लिए दूर-दूर से लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। रात्रि से लेकर सुबह तक यह अभिनय होता था। 'रासधारी' और 'ख्याल' पूर्ण रूप से नृत्य-नाट्य हैं। संवादों के लिए इनमें कोई स्थान नहीं। नक्कारे, शहनाई तथा नफीरी आदि वाद्यों पर एक विशिष्ट व्यक्ति अपनी नभ विदारक ध्वनि से 'ख्याल' के गीत गाता तथा अभिनेता उसे उसी उच्च स्वर में दोहरा कर नृत्य करता। अभिनेताओं के हाथ में लंबे-लंबे भाले होते थे, जिन्हें वे एक स्थान से दूसरे स्थान तक छलांग मारते समय ऊपर उछालते और घुमाते थे। उनकी पोशाकों में लंबे-लंबे घेरदार झगे, बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ, कोर किनारी वाले चमकीले दुपट्टे तथा सिर पर कलगियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। खेल चाहे पौराणिक हो या ऐतिहासिक, उनकी पोशाकें बहुधा एक ही तरह की होती थीं। राम, लक्ष्मण, रावण व अमरसिंह राठोड़ तथा राजा भर्तृहरि की पोशाकों में विशेष कोई अन्तर नहीं रहता था।

इन रासधारियों का एक बहुत ही कलात्मक रूप राजस्थान और मालवा की सीमा पर चित्तौड़, घोंसूड़ा तथा नीमच के पास आज भी प्रचलित है। वह है "तुर्राकलगी का खेल", तुर्रे का खेल हिन्दू लोग करते हैं और कलगी का मुसलमान। यद्यपि दोनों के कथा प्रसंग पौराणिक ही होते हैं, परन्तु प्रदर्शनों की व्यवस्था अलग-अलग होती है। इस खेल के लिए गाँव के बीचोबीच एक विशाल मंच बनाया जाता है, जो नाना प्रकार की कलात्मक सामग्रियों से सजाया सँवारा जाता है। इस मुख्य मंच के दोनों तरफ महल की अट्टालिका के आकार के दो छोटे पर ऊँचे मंच और बनाये जाते हैं, जिन से नीचे उतरने के

लिये बाँस की सीढ़ियाँ बाँधी जाती हैं। उनमें से एक से पुरुषपात्र अभिनय करते हुए उतरते हैं और दूसरे से स्त्रीपात्र। यह नाट्य भी नृत्य-नाट्य है और इसके समस्त संवाद गीतों में होते हैं। इसकी समस्त चाल ढाल तथा शैली राजस्थान क अन्य ख्यालों से भिन्न होती है। वेशभूषा अधिकतर मुसलमानी ढंग की होती है और अभिनेताओं के हाथ में कागजी फूलों की छड़ियाँ होती हैं। पुरुषपात्रों की पगड़ियों में तुर्रे, कलगी की छटा दर्शनीय है। इस ख्याल में भाग लेने वाले सभी शौकिया कलाकार होते है तथा इसे सफल बनाने के लिए गाँव के सभी लोग धन तथा सामग्री से मदद करते है।

दक्षिण भारत के यक्षगान और कुचपुड़ी नाट्यः—

कुचपुड़ी नामक स्थान के इर्द गिर्द दो बहुत ही सुन्दर नाट्य परंपराएँ आज भी दक्षिण भारत में प्रचलित हैं। इनकी वेशभूषा अत्यन्त चमकीली, भव्य तथा कलात्मक होती है। ये दोनों ही नाट्य शैलियाँ एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी उनमें काफ़ी साम्य है। इन में भी स्त्रीपात्रों का काम पुरुष ही करते हैं। ये दोनों ही शैलियाँ गीत और नृत्य प्रधान शैलियाँ हैं, परन्तु गायन का काम पृष्ठभूमि में बैठे हुए गायक और वादक करते हैं। इन नाट्यों में भावों और आंगिक मुद्राओं का बड़ा प्रयोग होता है और पेशेवर कलाकारों ने इन्हें शास्त्रीय नृत्यों की तरह कठिन और क्लिष्ट बना दिया है। इन के समस्त कथा-प्रसंग पौराणिक होते हैं। 'यक्षगान', 'कुचपुड़ी' से अधिक शक्तिशाली होता है। राक्षसी भूमिका में काम करने वाले पात्रों पर कभी कभी अत्यधिक भावोद्रेक के कारण बेहोशी छा जाती है, जिसे ये लोग देवताओं का प्रकोप समझते है; धार्मिक उपचारों से ही वह स्वस्थ हो सकता है। ये दोनों ही नाट्य खुले मैदानों में होते है और अपनी आजीविका उपार्जन के लिए इन नाट्यकारों को मंडलियाँ बनाकर एक गाँव से दूसरे गाँव का दौरा करना पड़ता है। इन का आज भी अच्छा प्रचार है।